

सिरिकुंदकुंदाइरियविरइय-अट्टपाहुडे
(श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-विरचित-अष्टपाहुडगत)

दंसणापाहुडं

(दर्शनपाहुड)

पाइयभासाए 'णंदिणीटीगा'
(हिंदीअणुवादसहिदा)

मुनि प्रणम्यसागर

प्रकाशक
आचार्य अकलंकदेव जैनविद्या शोधालय समिति
उज्जैन (म.प्र.)

2 :: दर्शनपाहुड

- कृति : दंसणपाहुडं (दर्शनपाहुड)
- आशीर्वाद/पद्यानुवाद : आचार्य श्री 108 विद्यासागरजी महाराज
- प्राकृत 'नंदिनीटीका'
एवं हिन्दी अनुवाद : मुनि श्री 108 प्रणम्यसागरजी महाराज
- संस्करण : प्रथम, नवम्बर 2019
- आइएसबीएन : 978-81-939298-9-6
- आवृत्ति : 1100 प्रतियाँ
- पुण्यार्जक : • वकील चन्द जैन (मो. : 9599678740)
8/121, सेक्टर-3, राजेन्द्रनगर, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ.प्र.)
• भोपाल सिंह जैन (मो. : 9560364646)
8/267, सेक्टर-3, राजेन्द्रनगर, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ.प्र.)
- मूल्य : 90/- रुपये
- प्रकाशक : आचार्य अकलंकदेव जैनविद्या शोधालय समिति
109, शिवाजी पार्क देवास रोड़, उज्जैन,
फोन: 2519071, 2518396
email: sss.crop@yahoo.com
- प्राप्ति स्थान : आर्हत विद्याप्रकाशन
गोटेगाँव, नरसिंहपुर (म.प्र.)
मोबा.: 09425837476
शैलेन्द्र शाह, उज्जैन
09425092483, 09406881001
- मुद्रक : आरसी प्रैस #9871196002

Ācārya Kundakunda's
Daṃsaṇāpahudaṃ
(Darśanapāhuda)
from
Ācārya Kundakunda's Aṣṭapāhuda

With commentary in Prakrit
– Nandiṇīṭīgā
and translation in Hindi
by
Muni Pranamyasagar

Publisher
Acharya Aklankdev Jainvidya Shodhalay Samiti
Ujjain (M.P.)

4 :: दर्शनपाहुड

- Book Name : **Darśanapāhuḍa**
- Blessing/Paddyānuvad : **Acharyashri 108 Vidyasagarji Maharaj**
- Prakrit Nandnitiga
and Hindi Translation : **Munishri 108 Pranamyasagarji Maharaj**
- Edition : First, November 2019
- ISBN : 978-81-939298-9-6
- Copy : 1100
- Donner : • **Vakeel Chand Jain** (M.: 9599678740)
8/121, Sector-3, Rajender Nagar, Sahibabad, Ghaziabad (U.P.)
• **Bopal Singh Jain** (M.: 9560364646)
8/267, Sector-3, Rajender Nagar, Sahibabad, Ghaziabad (U.P.)
- Price : ₹ 90/-
- Publisher : Acharya Aklankdev Jainvidya Shodhalay Samiti
109, Shivaji Park, Devas Road, Ujjain (M.P.)
Ph. : 2519071, 2518396
email: sss.crop@yahoo.com
- Sold by : Arhat Vidhya Prakashan
Gotegaon, Narsinghpur (M.P.)
Ph.: 09425837476

Shailender Shah Ujjain (M.P.)
Ph. : 09425092483
- Printed by : Arcee Press, New Delhi #9871196002

दर्शनपाहुड - एक समग्रचिन्तन

मुनि प्रणम्यसागर

आचार्य कुन्दकुन्द और दर्शनपाहुड - जैन जगत् में अनेक आचार्य हुए हैं उनमें सर्वाधिक पूज्य, जैन दिगम्बर परम्परा पोषक और श्रमण संस्कृति को निष्कलंक बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण, आचरण और अध्यात्मपरक ग्रन्थ लिखने वाले ऋषिओं में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त आचार्य कुन्दकुन्ददेव जी हैं। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में जहाँ समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थ आत्मज्ञान, भेदविज्ञान और शुद्धोपयोग की प्रेरणात्मक अवधारणा उत्पन्न करते हैं वहीं अष्टपाहुड जैसे ग्रन्थ यम-नियम-संयम तप रूप आचरण की निर्दोष चर्या पर ध्यान आकर्षित करते हैं। अष्टपाहुड की श्रंखला में दर्शन पाहुड प्रथम पाहुड है। इसमें मात्र 36 गाथाएं हैं। इन गाथाओं के माध्यम से दर्शनमार्ग को सर्वप्रथम प्रतिपादित किया है।

दर्शनपाहुड - एक दृष्टि में - आचार्य कुन्दकुन्द देव ने मंगलाचरण करते हुए सर्वप्रथम भगवान तीर्थंकर ऋषभदेव और वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार किया है और फिर दर्शनपाहुड को कहने की प्रतिज्ञा की है। दूसरी गाथा में कहते हैं कि धर्म का मूल दर्शन है। दर्शन हीन की वन्दना नहीं करना चाहिए। यहाँ वन्दना का प्रकरण प्रारम्भ हुआ तो स्पष्ट है कि वन्दना, भक्ति पूज्य की ही जाती है। इसलिए दर्शन का अर्थ मात्र सम्यग्दर्शन लेना, यह अनवरत चली आई विद्वानों की भूल का परिणाम समझा आता है। उसके बाद इसी दर्शन से, जिनलिंग से भ्रष्ट को भ्रष्ट कहा है। चर्या भ्रष्ट की सिद्धि है किन्तु दर्शन भ्रष्ट की सिद्धि नहीं है। सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट का बहुत शास्त्रों को जानना भी संसार भ्रमण का कारण है। बहुत प्रकार से जिन दर्शन से भ्रष्ट के दोषों का कथन किया है। जो दर्शन से रहित हैं दर्शनधारियों को अपने पैरों पर गिराते हैं वे लूले और मूक होंगे। इसी प्रकार जो दर्शन हीनों के पैर पड़ते हैं उनको भी बोधि नहीं होगी और वे पाप के अनुमोदक हैं। दर्शन की परिभाषा गाथा 14 में कही है फिर सम्यक्त्व से ज्ञान होना कहा है। जिन वचनों को औषध कहा है लिंग दर्शन तीन प्रकार का कहा है। सम्यग्दृष्टि के लिए श्रद्धा योग्य पदार्थों का वर्णन किया है। व्यवहार और निश्चय से सम्यक्त्व का स्वरूप कहा है। इस सम्यक्त्व को मोय महल का प्रथम सोपान स्वरूप कहा है। श्रद्धा का शक्ति से सम्बन्ध कहकर गुणधर गुणियों का कथन है। ऐसे रूप को धारण करने वाले गुणियों से द्वेष करने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। उनसे अपने को बड़ा मानते हैं वे सम्यक्त्व रहित हैं। असंयम की वन्दना न करें। गुण की ही वन्दना की जाती है। ऐसे गुणधर मुनियों की वन्दना स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव करते हैं। अरिहंत देव कर्मक्षय के लिए कारण हैं इसलिए उनकी वन्दना की है।

मोक्ष तो ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्र और संयम गुण के संयोग से होता है। निर्वाण तक पहुँचने का कारण चारित्र है। चारित्र सम्यक्त्व से होता है। सम्यक्त्व ज्ञान से होता है सभी सिद्ध इन्हीं चारों गुणों के समायोग से हुए हैं यह सम्यक्त्व रत्न देव-दानवों से पूजित है। सम्यक्त्व का कारण स्थावर प्रतिमा रूप जिनप्रतिमा है। विहार करने वाले उन अरिहंतों से जो तप ग्रहण करता है उसी को मोक्ष होता है। यही दर्शन पाहुड का संक्षिप्त प्रमेय है।

दर्शनपाहुड में अभी तक चली आई भूल -

1. सम्यक्त्व और दर्शन को एक मानना सभी विद्वानों की गहरी भूल रही है। प्रत्येक गाथा को पूर्व में बनी हुई किसी की हिन्दी या संस्कृत की टीका के बिना जो पाठक अध्ययन करेंगे उन्हींको इसका अन्तर ज्ञात होता है। सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन है और दर्शन जिनलिंग है। इस सब का सर्वप्रथम ज्ञान आचार्य गुरुदेव श्री विद्यासागरजी ने अपने चिन्तन से दिया है इस प्राकृत की नंदिनी टीका में यह विषय स्पष्ट किया गया है।

2. दूसरी भूल 'चरित्रभट्टा' शब्द में है। चरित्रभट्टा का अर्थ चारित्र भ्रष्ट नहीं है किन्तु चर्या भ्रष्ट है। चर्या का अर्थ गमनागमन, आहार, वन्दना आदि क्रियाएँ हैं और चारित्र अन्तरङ्ग कषाय के अभाव से प्राप्त परिणति है। इसका स्पष्टीकरण भी इस नंदिनीटीका में द्रष्टव्य है। पाठकों को मूल ग्रन्थ पढ़ने के लिए थोड़ा सा प्राकृत का विकासक्रम भी जानना चाहिए।

प्राकृत विकासक्रम- 'प्राकृत' यह नाम ही हमें स्वाभाविक, प्रकृति से जोड़ने वाला है। प्राक् कृत अर्थात् पहले से जो किया गया है वह प्राकृत है। प्राकृत की यह परिभाषा रूद्रट कवि विरचित काव्यालंकार की व्याख्या में नमिसाधु ने की है। लिखा है - प्राक् पूर्व कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं। यह की भाषा बालकों और महिलाओं के लिए अत्यन्त सरलता से ज्ञान में आती है। प्राकृत भाषा बोली की भाषा थी। वैदिक काल से पहले से चली आने वाली और जन-जन द्वारा बोली जाने वाली भाषा प्राकृत थी। इसी कारण से प्राकृत के विभिन्न रूप उन-उन देशों और प्रान्तों के नाम पर अलग-अलग जाने गए। जैसे शौरसेनी प्राकृत सूरसेन जनपद (प्रान्त) के आसपास की भाषा है। मथुरा, आगरा के क्षेत्र में शौरीपुर (बटेश्वर) ही वह स्थान है जहाँ की भाषा सूरसेन क्षेत्र से शौरसेनी के रूप में प्रसिद्ध हुई। आज मथुरा की प्रान्तीय भाषा ब्रज भाषा मानी जाती है किन्तु वह ब्रज आदि भाषाएँ इसी प्राकृत के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसी तरह मगध देश की भाषा मगधी भाषा भी प्राकृत का एक मिश्ररूप है। महाराष्ट्री, पैशाची प्राकृत भी इसी तरह प्रसिद्ध हुई हैं। शास्त्रों में लिखी जाने वाली प्राकृत साहित्यिक है, वह बोली जाने वाली जन भाषा से कुछ भिन्न स्वरूप धारण करती है, कारण कि लेखन नियमों पर आधारित हो जाता है।

जैन सिद्धान्तों के सर्व प्राचीनतम ग्रन्थ षट्खण्डागम आदिग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखे गए। ईसा की प्रथम शताब्दी में यह लेखन मुख्य रूप से किया गया। उसी समय आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार, प्रवचनसार आदि अनेक ग्रन्थ लिखे जो सभी प्राकृत भाषा में हैं। अनादिनिधन णमोकार मन्त्र इसी भाषा में आज भी बच्चे को पढ़ाया जाता है और इसका जाप, ध्यान आदि किया जाता है। इस भाषा की रक्षा न केवल जैन संस्कृति की रक्षा है अपितु भारतीय संस्कृति की रक्षा है। सभी भारतीय भाषाओं की जननी प्राकृत है। भाषाविज्ञों ने प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से हिन्दी बनी है, यह एकमत से स्वीकारा है अतः भारतीय साहित्य के प्राचीन वाङ्मय की यह भाषा आज सभी के लिए स्वीकार्य और रक्षणार्थ होनी चाहिए। कालिदास और भास कवियों के नाटकों में प्राकृत की प्रचुरता उस समय थी, वह प्राकृत की समृद्धि का संदेश देती है। यह संदेश जनमानस तक पहुँचना चाहिए।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत की रचना महाकवि भास के नाटकों से प्रारम्भ होती सी लगती है। जिनका रचना काल 500 ई.पू. माना गया है। प्राकृत भाषा में साहित्य का निर्माण ईसा से 400-500 वर्ष पूर्व होने लगा था। इधर जैन-साहित्य का निर्माण जब होने लगा तो उसमें भी संस्कृत का प्रभाव दिखने लगा। प्राकृत भाषा के विभाजन में भाषाविद् एकमत नहीं हैं कर्ह तरह के विभाजन के बाद भी अन्तिम निष्कर्ष में भाषा - वैज्ञानिकों ने प्राकृत के मुख्य भेद केवल चार ही स्वीकृत किए हैं - 1. शौरसेनी, 2. पैशाची, 3. मागधी एवं 4. महाराष्ट्री। एकान्त रूप से हमें यह नहीं मानना चाहिए कि प्राकृत में कोई भी व्याकरण नहीं है या इस भाषा में व्याकरण का संस्कार नहीं है। जैसे-जैसे प्राकृत में लेखन होने लगा वैसे-वैसे यह भाषा भी संस्कारित होने लगी क्योंकि लेखन बिना व्याकरण के संस्कार के संभव नहीं है। आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी ऐसे तीन भाषाओं को स्मरण किया है और इन तीनों भाषाओं को संस्कारयुक्त माना है। कहा है-

नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता।

प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता॥ -पद्मपुराण - 24/11

इससे यह बात भी आती है कि शौरसेनी को प्राकृत में भी एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। क्योंकि प्राकृत के जहाँ शाकरी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली आदि बहुत से नामों से जाना जाता है वहाँ शौरसेनी की यह विशेषता है कि उसे पृथक् याद किया है। इसका भी कारण यही ज्ञात होता है कि आचार्य पुष्पदन्त, भूतवली और आचार्य गुणधर जैसे सिद्धान्त वेत्ताओं ने प्राकृत में रचना करते हुए शौरसेनी प्राकृत में रचना की है। इसलिए शौरसेनी प्राकृत सभी प्राकृतों में शिरमौर हुई। विशेष जानकारी के लिए पुरी विश्वविद्यालय उड़ीसा के पूर्व कुलपति प्रो. (डॉ.) गंगाधर पण्डा का आलेख 'शौरसेनी प्राकृत का क्रमिक विकास' पढ़ना चाहिए।

दर्शन प्राभृत में भाषागत विशेषताएँ-

1. गाथा 2 - तं सोऊण सकण्णे
सकण्णे- यह अपभ्रंश भाषा का तृतीय विभक्ति का एकवचन का रूप है। इसका अर्थ है अपने कानों से।
2. गाथा 7 ; 'बंधुच्चिय' यहाँ बंधु शब्द बंध शब्द का अपभ्रंश भाषा में द्वितीया विभक्ति में एकवचन का रूप है। बंध के समान यह अर्थ है। यह 'कम्म' पद का विशेषण है।
3. गाथा 10 - 'परिवार' यह शब्द अपभ्रंश भाषा में षष्ठी के एकवचन का रूप है।
4. गाथा 18 - 'चउत्थ' यह अपभ्रंश भाषा का नपुंसक लिंग में प्रथमा विभक्ति का एकवचन का रूप है।
5. गाथा 19 - 'दव्व' और 'तच्च' यह अपभ्रंश भाषा के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन के रूप हैं।
6. गाथा 21 - 'गुणरयणत्तय' यह अपभ्रंश भाषा का पुलिङ्ग का षष्ठी का एकवचन का रूप है।
उसी प्रकार 'पढम' यह नपुंसक लिंग का प्रथमा विभक्ति का एकवचन का रूप है।

मुनिश्री प्रणम्यसागरजी विरचित दंसणपाहुड-‘णंदिणीप्राकृतटीका’ : एक दृष्टि

-डॉ. सुमत जैन, उदयपुर

आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रणीत अष्टपाहुड एक आचरणमूलक के साथ ही साथ तत्त्व-चिन्तनपरक ग्रन्थ भी है, जिसमें मुनि/श्रमण के अन्तरंग और बहिरंग स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य मुनि को करने योग्य अन्तरंग और बाह्य प्रवृत्तियों से अवगत कराना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं लिखा है कि भव्य जीवों को बोध कराने के लिए ही यह ग्रन्थ लिखा गया है।¹ इस श्रमणाचारपूर्ण अष्टपाहुड पर सर्वप्रथम नंदिनीप्राकृतटीका का प्रणयन संतशिरोमणी आचार्य विद्यासागरजी महाराज के शिष्य मुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज ने किया है। यद्यपि लिंगपाहुड और शीलपाहुड को छोड़कर शेष पाहुडों पर श्रुतसागरीयटीका संस्कृत भाषा में भट्टारक श्रुतसागरसूरि (16वीं शताब्दी) की प्राप्त होती है।

परमपूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागर का जीवन वैराग्य की सरिता में निरन्तर प्रवाहित हो रहा है, साथ ही ज्ञान की अजस्रधारा निरन्तर गतिशील है। आपका हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और प्राकृत भाषा पर एकाधिकार है। इन भाषाओं में आप भव्यजीवों की कल्याणार्थ धाराप्रवाह साहित्यसृजन कर रहे हैं। आपके द्वारा विरचित कृतियाँ जन-जन को पाथेय प्रदान कर रही हैं। आपकी प्राकृत साहित्य के सृजन और प्रचार-प्रसार में अत्यन्त ही आत्मीयता है। अतएव शौरसेनी प्राकृत साहित्य के विकास में आपका अभूतपूर्व योगदान है। अभी तक रचित लगभग शताधिक रचनाओं के अन्तर्गत तित्थयरभावणा, दार्शनिक प्रतिक्रमण, अट्ठपाहुड पर प्राकृतटीका, धम्मकहा, प्राकृत रचना भास्कर तथा प्राकृत शिक्षा भाग एक से चार तक प्राकृत भाषा में रचित हैं। इन कृतियों का अध्ययन कर बालकों से लेकर वृद्ध तक लाभान्वित हो रहे हैं। आपके द्वारा रचित ‘तित्थयरभावणा’ प्राकृत-नेट परीक्षा के पाठ्यक्रम में आधुनिक प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत जोड़ दी गई है, साथ ही तित्थयरभावणा को लेकर मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर में शोधकार्य भी हो रहा है। यह हम सभी के लिए अत्यन्त ही गौरव की बात है और पूज्यमुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज को आधुनिक प्राकृत भाषासर्जना के महामनीषी कहकर अभिधानित किया जाए तो इसमें कोई अतिसंयुक्ति नहीं होगी।

1. भव्यजण बोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं..... बोधापाहुड गाथा 60

भारतीय-ज्ञानपरम्परा में जैनसाहित्य का विशिष्ट स्थान हैं। जैन-साहित्य प्रायः आगम-सूत्रों से सम्बद्ध है, साथ ही स्वतंत्र भी है।² आगमसूत्रों की दुरुहता और अर्थ-गाम्भीर्य को अवबोधपूर्ण बनाने के लिए एवं सरलतापूर्वक हृदयांगम किया जा सके, इसलिए विपुलरूप में व्याख्या-पद्धतियों के साहित्य का सृजन किया गया क्योंकि बिना व्याख्या-साहित्य के सूत्रों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।

जैन-आगमसूत्रों को सौविध्यपूर्ण बनाने के लिए वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन गेय, कथाप्रसंग, दृष्टान्त लोकभाषा आदि माध्यमों से किया जाता रहा है। इन्हीं पद्धतियों का विभिन्न रूपों में विकास हुआ, जिन्हें जैन परम्परा में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वार्तिक आदि विविध व्याख्या-पद्धतियों के नाम से जाना जाता है। इन व्याख्या-पद्धतियों में सबसे प्राचीन निर्युक्ति को प्राकृतभाषा में पद्यबद्ध, भाष्य को भी प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध, चूर्णि को संस्कृतमिश्रित प्राकृत बहुल गद्यबद्ध एवं टीका को संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में सृजित किया गया। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय लोकभाषाओं में टब्बा, अवचूरि, बलावबोध आदि व्याख्या पद्धतियाँ ढूंढारी, वघेली, राजस्थानी, गुजराती आदि लोकभाषाओं में उपलब्ध होती है।

मूल आगमसूत्रों एवं ग्रन्थों के स्पष्टीकरण के लिए 'टीका' रची जाती है। टीका की रचना सामान्यतः संस्कृत व क्वचित् प्राकृत में रचित वृत्ति, दीपिका, न्यास, लघुवृत्ति, बृहद्-वृत्ति, वार्तिक आदि नामों से की जाती है। सामान्यरूप से टीका गद्यात्मक ही होती है, क्वचित् पद्यबद्ध भी उपलब्ध होती है। टीका अपने विवेच्य कृति के प्रतिपाद्य विषय के सामान्य, मध्यम, विस्तृत या अतिविस्तृत विवरण के रूप में होती है। प्राकृत टीकाओं के रूप में उपलब्ध हैं- विशालकाय ग्रन्थ षट्खण्डागम पर आचार्य वीरसेनस्वामी की धवला और कषायपाहुड़ पर जयधवला टीका, इसके अतिरिक्त नेमिचन्द्रसूरि की उत्तराध्ययनसूत्र पर सुखबोधाटीका एवं शिष्यहिता पाइयटीका प्राप्त होती है। इसी क्रम में अष्टपाहुड़ पर मुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज जी प्रणीत नंदिनीप्राकृतटीका है।

पूज्यमुनिश्री प्रणम्यसागर की विद्वता का दिग्दर्शन हमें इस दंसणपाहुड की नंदिनीप्राकृतटीका में सर्वत्र प्राप्त होता है। मूलगाथाओं के साथ पर-अपर पूर्वपरम्परा का ही अनुकरण करके ही इसका प्रणयन किया गया है। प्राकृतभाषा की मूलगाथाओं के पृथक्-पृथक् शब्दों के साथ प्राकृतटीका द्वारा मूल ग्रन्थकार के भावों और शब्दों को सरल, सुबोध और विस्तृत रूप में समझने में सहायता मिलती है। साथ ही टीका का हिन्दी अनुवाद और पद्यानुवाद करके मुनिश्री ने इसे बालसुबोध, जनकल्याणार्थ और वर्तमानानुगामी बनाया है।

2. प्राकृत साहित्य का इतिहास, जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2014ई. पृष्ठ 175

मुनिश्री ने टीका में साहित्यमीमांसा परक विश्लेषण भी प्रस्तुत किये हैं। यथा- **णमिदि वक्कलंकारे** अर्थात् यह णं शब्द वाक्यालंकार में प्रयुक्त है।³

प्राकृत भाषा के प्रमुख नियम विभक्ति-लोप का अपनी टीका में यथास्थान निर्देश दिया है। यथा- गाथा 6 में आगत **समत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण** जे सव्वे॥ यद्यपि यहाँ बहुवचन होना चाहिए था, किन्तु मुनिश्री ने अपनी टीका में निर्दिष्ट किया है कि प्राकृत लक्षण के बल से विभक्ति का लोप हुआ है। इसी तरह गाथा 10 में आगत शब्द **परिवार तथा गुणरयणत्तय** में भी पागदलक्खणबलेण विहत्तिलोवो अर्थात् विभक्ति का लोप हुआ है।

मुनिश्री ने टीका के अन्तर्गत यथावसर दृष्टान्तों के माध्यम से पदे-पदे विषय को स्पष्ट किया है। यथा- एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है- **जहा भद्दणकुमारादीओ राजपुत्ता अणादिमिच्छादिट्ठीओ तसपज्जायं पाविदूण उसहजिणणाहवदणकमलणिग्गदधम्मसवणं किच्चा संजमं लहिदूण अप्पकालेणेव मुत्तिकंताए वल्लहा जादा।** अन्यत्र भी दृष्टान्तों से टीका में रोचकता प्रदान की है।

मुनिश्री ने मूलगाथा में आगत विषय को उत्थानिका में संक्षिप्त में प्रतिपादन किया है और गाथा का विस्तार से निरूपण गाथा के पश्चात् किया है। साथ ही प्रायः प्रत्येक शब्दों की परिभाषाएँ भी दी हैं।

नंदनीटीका की प्रामाणिकता की दृष्टि से यह भी विशेषता है कि इसमें मुनिश्री ने जैनसाहित्य के चारों अनुयोगों से सम्बन्धित ग्रन्थों और आचार्यों के अनेक दुर्लभ उद्धरणों, प्रमाणों, पद्य-श्लोकों को विषय की पुष्टि एवं उनके प्रतिपादन हेतु प्रसंगानुसार पदे-पदे संकलित किये हैं।⁴ इससे मुनिश्री की विशाल अध्ययनशीलता का दिग्दर्शन होता है।

यह टीका परिपूर्ण कही जा सकती है, क्योंकि मुनिश्री ने आठों पाहुड पर टीका लिखी है, जबकि इससे पूर्व श्रुतसागरसूरि प्रणीत टीका छह पाहुडों पर ही प्राप्त होती है। प्रत्येक पाहुड की टीका के अंत में दी गई प्रशस्ति/पुष्पिका निश्चित ही भविष्य में ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में मानी जायेगी।⁵

पूज्य मुनिश्री ने नंदनीटीका में प्रायः सर्वत्र शौरसेनीप्राकृत का प्रयोग किया है। इस भाषा के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

1. अनादि में वर्तमान असंयुक्त त का द होता है ।

यथा- **पणीदं, जिणमदं, एदेण, कदो, दीसदि (दिस्सदि), जदि, इदि (और त्ति), रदी, देदि,**

3. सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठवि उग्गं तवं चरंता णं। ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं॥- दर्शनपाहुड गाथा-5

4. समयसार, प्रवचनसार, भगवती आराधना, समयसार कलश, आदिपुराण, दर्शनसार, नाटक साहित्य का मुद्राराक्षसम्, आत्मानुशासन, सिद्धभक्ति, विषपहारस्तोत्र आदि की गाथा, पद्यों प्रसंगानुसार टीका में दिया है।

5. इदि दंसणपाहुडस्स णंदिणीटीका मज्झिम्पदेसपंतस्स 'मंदसोरजणवदे' वीरणिव्वाणद्दे पच्चीससदेगतालीसतमे अट्ठारसमे वरिसाजोगे सावणकिण्हचउदसीए गुरुवासरे (13.08.2015) पुण्णा कदा।

2. थ के स्थान पर विकल्प से ध होता है ।
यथा- पधं, पहं (पथम्) तस्स मग्गो पहं तं॥-पृ.2
अह, अध (अथ)।- अह हुण्डावसप्पिणिसमयसंजादा.....॥ पृ. 1
3. भू धातु के आकार को विकल्प से भ आदेश होता है।
यथा- भोदि, होदि (भवति)... होदि त्ति।-पृ.2
4. तावत् शब्द के आदि तकार को विकल्प से दकार होता है ।
यथा- दाव, ताव...मुनिश्री ने ताव रूप रखा है।- पृ. 1 ताव पढमं दंसणपाहुडं समाह...।
5. पंचमी विभक्ति के स्थान पर आदो और आदु आदेश होते हैं।
यथा- विरोहादो पृ.4 णिव्वाणगमणे विरोहादो...।
6. ति के स्थान पर दि और ते के स्थान पर दे, दि आदेश होते हैं।
यथा- गच्छदि, गच्छदे दीसदि (दिस्सदि)।-पृ.3 तं खलु जिणिंदरूवेण विणा ण दिस्सदि।
7. क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण और ता प्रत्यय होते हैं। पूज्य मुनिश्री ने प्रायः दूण प्रत्यय का ही प्रयोग किया है।
यथा- अव+ लंघ+दूण = अवलंघिदूण
भू+दूण, होदूण, भोदूण।- पृ. 4 जे बहिरे जिणलिंगधरा होदूण वि अंतरंगे.....।

उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सामान्य प्राकृत का प्रयोग किया है। जैसे- स्वर परिवर्तन, व्यंजन परिवर्तन, संयुक्त व्यंजन परिवर्तन, स्वरभक्ति, सम्प्रसारण, संधि और आर्ष प्रयोग आदि।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज की यह नंदिनीप्राकृतटीका परिपूर्ण होने के साथ ही साथ अनेक नूतन विषयों को अन्वेषण के लिए भी प्रेरित करती है। जैसे- टीका का सामाजिक अवदान, जैनसिद्धान्तों की प्रयोगधर्मिता, जैनपारिभाषिक शब्द : एक अध्ययन, नैतिकतामय योगदान, भाषापरक अध्ययन और वर्तमान समसामयिक सन्दर्भ आदि विषयों को लेकर स्वतंत्र शोध किया जा सकता है।

पता- सहायक आचार्य

जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग

मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय,

उदयपुर-313001 (राज.)

मो. 9024764343

ईमेल- drsumat.jain@gmail.com(Footnotes)

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

-नेमिचन्द्र शास्त्री

श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसंस्थापक आचार्य के रूप में की गयी है, जिनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मंगलरूप में इनका स्तवन किया जाता है। मंगलस्तवन का प्रसिद्ध पद्य निम्न प्रकार है—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

जिस प्रकार भगवान् महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मंगलरूप हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी। इन जैसा प्रतिभाशाली अध्यात्म और द्रव्यानुयोग के क्षेत्र में प्रायः दूसरा आचार्य दिखलाई नहीं पड़ता।

इनकी रचनाओं से इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन्होंने 'वारसअणुवेक्खा' ग्रन्थ में अपने नाम का निर्देश किया है। लिखा है—

इदि णिच्छय-ववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।

जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं॥¹

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चय और व्यवहार का अवलम्बन लेकर जो कथन किया है, उसकी शुद्ध हृदय से जो भावना करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

स्पष्ट है कि 'वारसअणुवेक्खा' में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरसूरि ने भी कुन्दकुन्द की रचनाएँ बतलाती हैं। बोधपाहुड में कुन्दकुन्द ने अपने गुरु का नाम भद्रबाहु बतलाया है। गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

सद्धवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्धबाहुस्स॥

वारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।

सुयणाणिभद्धबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ²॥

अर्थात् कुन्दकुन्द ने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा है। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना का इतिवृत्त अंकित करने के पश्चात् लिखा है कि ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ कौण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म'

1. वारसअणुवेक्खा, गाथा 91, कुन्दकुन्दभारती संस्करण।

2. बोधपाहुड, गाथा 60-61, कुन्दकुन्दभारती संस्करण।

नामक ग्रन्थ की रचना की¹। दर्शनसार में देवसेन ने भी आचार्य पद्मनन्दि की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।

ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥²

अर्थात् पद्मनन्दिस्वामी ने सीमन्धरस्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त कर अन्य मुनियों को प्रबोधित किया। यदि वे इस प्रबोधन कार्य को न करते तो श्रमण किस प्रकार सुमार्ग को प्राप्त करते।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के दो आचार्य टीकाकार हैं—अमृतचन्द्र और जयसेन। अमृतचन्द्र ने अपने मूलग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं किया है; पर जयसेन ने लिखा है—“पद्मनन्दि जयवन्त हों, जिन्होंने महातत्त्वों का कथन करने वाले समयप्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धि...उद्धार करके भव्यजीवों को अर्पित किया।”³

पञ्चास्तिकाय की⁴ टीका प्रारम्भ करते हुए भी जयसेन ने कुन्दकुन्द का अपरनाम पद्मनन्दि बताया है। इनके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे।

जयसेन ने टीका के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द के पूर्व विदेह में जाने की कथा की ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि इन्होंने पूर्वविदेह में वीतराग सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामी के दर्शन किये थे और उनके मुखकमल से निस्सृत दिव्यवाणी को सुनकर अध्यात्मतत्त्व का सार ग्रहण कर वे वापस लौट आये थे। उन्होंने अन्तस्तत्त्व और बाह्यतत्त्व की मुख्यता एवं गौणता का ज्ञान कराने के लिये शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र की रचना की।

कुन्दकुन्द के जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त सूचनाओं में ऐसी दो कथाएँ प्राप्त हैं, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। कथाओं में कितना अंश सत्य और तथ्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द अध्यात्मशास्त्र के महान् प्रणेता एवं युगसंस्थापक आचार्य थे।

प्रथम कथा ब्रह्मनेमिदत्त विरचित आराधनाकथाकोष में शास्त्रदान के फलस्वरूप आई है।

1. श्रुतावतार, पद्य 160-161

2. दर्शनसार, गाथा 43.

3. जयउ रिसिपउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो ।

बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥

समयसार, स्याद्वादाधिकार, अहिंसा-मन्दिर प्रकाशन 1, दरियागंज, दिल्ली-6, टीका का अन्तिम पद्य ।

4. पञ्चास्तिकाय, जयसेनटीका, ‘अथश्रीकुमारनन्दिस्सिद्धान्तदेवशिष्यै...’, प्रथम पृष्ठ, ग्रन्थारम्भ ।

दूसरी कथा 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थ में आई है, जिसका प्रकाशन पं. नाथूराम जी प्रेमी ने जैन हितैषी में¹ किया था। कथा में बताया है कि मालव देश के बारांपुर नगर में कुमुदचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। इस राजा के राज्य में कुन्दश्रेष्ठी अपनी पत्नी कुन्दलता के साथ निवास करता था। इनके कुन्दकुन्द नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। यह शिशु शैशव से ही गंभीर, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली था। जब यह ग्यारह वर्ष का था, उस समय नगर के उद्यान में एक मुनिराज आये। उनका उपदेश सुनने के लिए नगर के नरनारी एकत्र हुए। कुन्दकुन्द भी उसमें सम्मिलित हुआ था। मुनिराज का उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर मुनि बन गया, 33 वर्ष की अवस्था में इन्हें आचार्य-पद मिला। इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र बताया गया है।

एक दिन आचार्य कुन्दकुन्द आगमग्रन्थों का स्वाध्याय कर रहे थे कि उनके मन में एक शंका उत्पन्न हुई। वे ध्यानमग्न हो गये और विदेह क्षेत्र में स्थित सीमन्धरस्वामी के प्रति एकाग्र हुए। सीमन्धरस्वामी ने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर आशीर्वाद दिया। समवसरण में स्थित व्यक्तियों को इस आशीर्वाद को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की कि आपने किसको आशीर्वाद दिया है ? उत्तर में बताया गया कि भरतक्षेत्र में स्थित कुन्दकुन्द मुनि को आशीर्वाद दिया है। वहाँ पर कुन्दकुन्द के पूर्वजन्म के चारण ऋद्धिधारी दो मित्र मुनि उपस्थित थे। वे बारांपुर गये और वहाँ से आकाशमार्ग द्वारा कुन्दकुन्द को ले आये। आकाशमार्ग में जाते समय उनकी मयूरपिच्छिका गिर गई और उन्होंने गृद्धपिच्छी से अपना काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और अपनी शंका का समाधान किया। लौटते समय वे अपने साथ एक तन्त्र-मन्त्र का ग्रन्थ भी लाये थे, किन्तु वह मार्ग में लवणसमुद्र में गिर गया। कुन्दकुन्द ने भरतक्षेत्र में अपना धार्मिक उपदेश प्रारम्भ किया और इनके सहस्रों अनुयायी हो गये। तत्पश्चात् गिरिनार पर्वत पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया और वहाँ की ब्राह्मीदेवी के मुख से यह कहलवाया गया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। उन्होंने अपना आचार्यपद अपने शिष्य उमास्वाति को प्रदान किया और सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग दिया।

'ज्ञानप्रबोध' की इस कथा का परीक्षण करने पर अवगत होता है कि 'जम्बूदीवपण्णत्ती' के कर्ता पद्मनन्दि को कुन्दकुन्द से अभिन्न समझकर उनका स्थान बारांपुर नगर बताया है। माता-पिता के नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठी भी कल्पित प्रतीत होते हैं। विदेहगमन की कथा जो पहले से प्रचलित थी उसे भी जोड़कर प्रामाणिकता लाने का प्रयास किया गया है।

कुन्दकुन्द के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से जो स्वीकार किया है

1. जैन हितैषी, भाग 10, पृ. 369.

उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम 'करमण्डु' और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थान में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरूमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिले में है। कहा जाता है कि करमण्डु-दम्पति को बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर ग्राम के नाम पर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्र बुद्धि के कारण ग्रन्थाध्ययन में इनका अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ। युवावस्था में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादशअनुप्रेक्षा की अन्तिम गाथा में उसके रचयिता का नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका में पद्मनन्दि का जयकार किया है। इन्द्रनन्दि ने भी अपने श्रुतावतार में कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि का निर्देश किया है ? श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. 40 में तथा 42, 43, 47 और 50वें अभिलेख में भी उक्त कथन पुनरावृत्त हुआ है। लिखा है—

तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।

श्रीकौण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥¹

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थान के नाम पर कुन्दकुन्द नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्द के षट्प्राभूतों के टीकाकार श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभूत के अन्त में जो पुष्पिका अंकित की है उसमें इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिये हैं। जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 1 किरण 4 में शक सं. 1307 का विजयनगर का एक अभिलेखांश प्रकाशित है, जिसमें लिखा है—

“आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।

एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥”

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्द के बताये हैं। डॉ. हार्नले ने दिगम्बर पट्टावलियों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने कुन्दकुन्द के पाँच नाम बताये थे। अतः इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के दो नामों की प्रवृत्ति तो निस्संदेह रही है; पर शेष तीन नामों के सम्बन्ध में विवाद है। शिलालेखों से तथा अन्य प्रमाणों

1. जैन शिलालेख-संग्रह, प्रथम भाग, लेख नं. 40, पृ. 24

से न तो वक्रग्रीव और न एलाचार्य या गृद्धपिच्छ नाम की ही सिद्धि होती है। वक्रग्रीव का उल्लेख ई. सन् 1125 के 493 संख्यक अभिलेख में द्रविड़ संघ और अरुंगलान्वय के आचार्यों की नामावली में आता है; किन्तु उसमें उनके सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। 1129 ई. के श्रवणबेलगोलाभिलेख नं. 54 में वक्रग्रीव नाम आया है; पर इस अभिलेख से यह कुन्दकुन्द का नामान्तर है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

श्रवणबेलगोल के अभिलेख नं. 305 में समन्तभद्र और पात्रकेसरी के पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आया है और इन्हें द्रमिल संघ का अग्रेसर कहा है। इसी प्रकार अभिलेख नं. 347 और 319 में भी वक्रग्रीव का नाम अंकित है; पर इन सभी अभिलेखों से कुन्दकुन्द के साथ वक्रग्रीव का सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से एलाचार्य के सम्बन्ध में भी कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं; पर यह कुन्दकुन्द का नामान्तर सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार गृद्धपिच्छ भी कुन्दकुन्द का नामान्तर घटित नहीं होता है। संभवतः यह नाम उमास्वाति का रहा है। संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि अवश्य प्रमाणित होता है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का क्या नाम था और उन्होंने किस गुरु-परम्परा को सुशोभित किया, इसके सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द-ग्रन्थों के टीकाकार जयसेनाचार्य के मतानुसार ये कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। नन्दिसंघ की¹ पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र थे। कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने गुरु का नाम भद्रबाहु माना है।

मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख में उच्चनागर शाखा के एक कुमारनन्दि का निर्देश प्राप्त होता है। यह अभिलेख हुविष्क वर्ष सत्तासी का है। इस आधार पर भी कुमारनन्दि का गुरु-शिष्यत्व कुन्दकुन्द के साथ घटित नहीं होता। यतः उच्चनागर शाखा के साथ कुन्दकुन्द का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नन्दिसंघ की पट्टावलि में माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द का क्रमशः उल्लेख आता है। इससे यह फलित होता है कि माघनन्दि के पश्चात् जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के पश्चात् कुन्दकुन्द को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ होगा। अतः हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्द के गुरु का नाम जिनचन्द्र होना चाहिए।

1. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4, पृ. 78, यह पट्टावलि मूलतः इन्डियन एन्टीक्वयरी में प्रकाशित हुई है।

कुन्दकुन्द ने अपने 'बोधपाहुड' में अपने को भद्रबाहु का शिष्य कहा है। पर इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य थे या पारम्पर्य ? कुन्दकुन्द ने लिखा है—

सङ्खियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्रबाहुस्स ॥61॥

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।

सुयणाणिभद्रबाहु गमयगुरु भयवओ जयऊ ॥62॥¹

जिनेन्द्र ने-तीर्थंकर महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित हुआ है। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषासूत्रों पर से उसको उसी रूप में जाना है। और बारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु को 'गमकगुरु' कह कर उनका कुन्दकुन्द ने जयघोष किया है।

द्वितीय गाथा के आलोक में प्रथम गाथा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु नहीं थे, 'गमक गुरु' थे। आचार्य श्रीजुगलकिशोर मुख्तार ने उक्त दोनों गाथाओं में प्रथम गाथा का सम्बन्ध द्वितीय भद्रबाहु के साथ और द्वितीय गाथा का सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ बतलाया है। उन्होंने लिखा है—“इकसठवीं गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य प्रकट किया है। जो संभवतः भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं। क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय में जिनकथित श्रुत में ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे उक्त गाथा में 'सङ्खियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं' इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहु के समय में ऐसी स्थिति नहीं थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था, वह अनेक भाषासूत्रों में परिवर्तित हो गया था। इससे इकसठवीं गाथा के भद्रबाहु द्वितीय ही जान पड़ते हैं। बासठवीं गाथा में उसी नाम से प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहु का, जो कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगल के रूप में जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर गमकगुरु लिखा है। इस तरह अन्त की दोनों गाथाओं में दो अलग-अलग भद्रबाहुओं का उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।² मुख्तार साहब का उक्त कथन विचारणीय है। यहाँ दो भद्रबाहुओं का कथन न कर कुन्दकुन्द ने पूर्व गाथा में प्रतिपादित भद्रबाहु के कथित गुरुत्व का गमक गुरु के रूप में उल्लेख आया है। 'गमक' शब्द का अर्थ शब्दकल्पद्रुम में

1. बोधपाहुड, गाथा 61-62

2. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. 93

‘गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक’, √गम् + णिच् + ण्वुल् बोधक मात्र या सुझाव देने वाला अथवा तत्त्व प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला बतलाया है। मातंगलीला में ‘गमक-पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः’, अर्थात् पाण्डित्य या वैदग्ध्य प्राप्ति को गमक कहते हैं। यहाँ पर ‘गमक’ शब्द ‘परम्परया’ या ‘प्रेरणया’ के रूप में प्रयुक्त है। अतएव ‘गमक’ शब्द परम्पराप्राप्त श्रुतकेवली के लिए ही व्यवहृत हुआ है। दो भद्रबाहुओं की कल्पना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भद्रबाहु श्रुतकेवली कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु न होकर ‘गमक गुरु’ या प्रेरक गुरु थे। श्री पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।¹

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से भी इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है। यतः श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत गये थे और वहाँ श्रवणबेलगोला स्थान में समाधिमरण प्राप्त किया था। अतः दक्षिण में श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुन्दकुन्द मूलसंघ के आचार्य थे और दक्षिण भारत के निवासी। अतः इन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी कारण कुन्दकुन्द ने उन्हें ‘गमकगुरु’ कहा है। पट्टावली के अनुसार इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र और दादा गुरु का नाम माघनन्दि है।

कुन्दकुन्द के जीवन में घटित घटनाएँ

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन में प्रमुख दो घटनाओं के घटित होने की कथा प्रसिद्ध है। एक है विदेह यात्रा और दूसरी है गिरनार पर्वत पर हुए दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में उनकी विजय।

जहाँ तक विदेह यात्रा की बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आचार्य जयसेन और श्रुतसागरसूरि के उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे और वहाँ से भगवान् सीमन्धर स्वामी का उपदेश ग्रहण कर लौटे थे तथा सीमन्धर स्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान का श्रमणों को उपदेश दिया था। देवसेन (ई. सन् 9वीं शती) ने दर्शनसार में लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।

ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणांति ॥43पू॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते, तो श्रमण-मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

1. मातंगलीला 1/7

2. कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह, प्रस्तावना, पृ. 11-12

देवसेन का यह उल्लेख काफी प्राचीन है और उस पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता।

इसी तरह आचार्य जयसेन (ई. सन् 12 वीं शती) ने भी पञ्चास्तिकाय की टीका के आरम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन को 'प्रसिद्धकथान्याय' बतलाते हुए उसकी स्पष्ट चर्चा की है।

षट्प्राभृत के संस्कृत-टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने भी टीका के अन्त में कुन्दकुन्दस्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है।

ये उल्लेख अकारण नहीं हो सकते। वे अवश्य विचारणीय हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर वाद-विवाद में विजयप्राप्ति के भी उल्लेख मिलते हैं। शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डवपुराण में लिखा है कि कुन्दकुन्दगणी ने ऊर्ज्यन्तगिरि पर अपने प्रभाव से पाषाण-निमित्त सरस्वती को वादिता-शास्त्रार्थकत्री बना दिया था। यथा—

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्यन्तगिरिमस्तके ।

सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥¹

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्ज्यन्त गिरि के मस्तक पर-गिरनार पर्वत के ऊपर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया।

इसी तरह का उल्लेख शुभचन्द्र की गुर्वावलि के अन्त में निबद्ध उन दो पद्यों में भी है, जो निम्न प्रकार हैं

पद्मनन्दी गुरुजातो बलात्कारगणाग्रणी ।

पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥

ऊर्ज्यन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत् ।

अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥²

बलात्कारगणाग्रणी पद्मनन्दी गुरु हुए। जिन्होंने ऊर्ज्यन्तगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ। अतः उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को नमस्कार हो।

कवि वृन्दावन के एक उल्लेख से भी ज्ञात होता है, कि कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित गिरनार की यात्रा के लिए गये। वहाँ पर उन दिनों श्वेताम्बरों का भी संघ ठहरा हुआ था। दोनों संघों

1. पाण्डवपुराण।

2. जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4, पृ. 58

में वादविवाद हुआ और इसकी मध्यस्थता अम्बिका देवी ने की। उसने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ पन्थ ही सच्चा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमी ने तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार शीर्षक निबन्ध में बताया है—“जान पड़ता है, गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ, जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्याय ने किया है। यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है, क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्य में भी एक दूसरे रूप में मिलता है।”

इस सब पर विचार करने से प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरों का शास्त्रार्थ तो अवश्य हुआ है, पर यह शास्त्रार्थ नन्दिसंघ के आचार्य पद्मनन्दि, जिनका अपर नाम कुन्दकुन्द था, के साथ नहीं हुआ है। यह अन्य पद्मनन्दि के साथ हुआ होगा, जिनका समय विक्रम की 12वीं शताब्दी है।

समय-निर्धारण

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विचार करने वालों में श्री पं. नाथूरामजी प्रेमी; श्री पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार; डॉ. के. बी. पाठक, प्रो. ए. चक्रवर्ती और डॉ. ए. एन. उपाध्ये के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ. उपाध्ये ने सभी मतों की समीक्षा कर अपने मत की संस्थापना की है। हम यहाँ संक्षेप में उक्त विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे।

प्रेमीजी ने इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर बताया है कि गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य द्वारा रचित गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणसूत्रों के रूप में ‘कसायपाहुड’ निबद्ध हुआ। धरसेन की परम्परा में पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों को कुन्दकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि ने गुरु परम्परा से प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 12000 श्लोकप्रमाण परिकर्मनामक ग्रन्थ की रचना की। प्रेमीजी ने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वीरनिर्वाण संवत् 683 के पश्चात् कुन्दकुन्द हुए हैं। धरसेन, उच्चारणाचार्य आदि के समय को पचास-पचास वर्ष मान लेने पर कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

प्रेमीजी ने एक अन्य प्रमाण यह भी दिया है कि ऊर्ज्यन्तगिरि पर श्वेताम्बरों के साथ कुन्दकुन्द का ही शास्त्रार्थ हुआ था। उनके सुत्तपाहुड से भी यह प्रकट है। देवसेन के दर्शनसार के अनुसार विक्रम की मृत्यु के 136 वर्ष बीतने पर यह संघभेद हुआ। प्रेमीजी ने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर $136+135=271$ विक्रम सं. में संघभेद माना है। इस काल का

श्रुतावतार में उल्लिखित समय के साथ समन्वय हो जाता है। अतएव प्रेमीजी के मतानुसार कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तृतीय शताब्दी का अन्तिम चरण है।

डॉ. पाठक को¹ राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीय के दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। उनमें से एक शक सं. 719 का है और दूसरा शक सं. 724 का है। इनमें कोण्डकोन्दान्वय के तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि का तथा उसके शिष्य का निर्देश किया है। डॉ. पाठक का अभिमत है कि प्रभाचन्द्र शक सं. 719 में और उनके दादागुरु तोरणाचार्य शक सं. 600 में हुए होंगे। कुन्दकुन्द को इनसे डेढ़ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है। अतएव कुन्दकुन्द का समय शक सं. 450 के लगभग है।

डॉ. पाठक ने अपने इस अनुमान का समर्थन एक अन्य आधार से भी किया है। उन्होंने बताया है कि चालुक्यनरेश कीर्ति वर्मा शक सं. 500 में राज्यसिंहासन पर आसीन थे। उन्होंने बादामी को जीता और कदम्ब राज्यवंश को नष्ट कर दिया। अतः यह निश्चित हुआ कि कदम्ब राजवंश का शिवमृगेश वर्मा लगभग 50 वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं. 450 के आस-पास विद्यमान था। बालचन्द्र ने पंचास्तिकाय की कनड़ी टीका और जयसेन ने संस्कृत टीका में बताया है कि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के सम्बोधन के लिए यह ग्रन्थ लिखा। यह शिवकुमार महाराज कदम्बवंशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होता है। अतः कुन्दकुन्द का समय शक स. 450 (ई. सन् 528) आता है।

विचार करने पर डॉ. पाठक का उक्त मत नितान्त असमीचीन है। आज इस मत को कोई भी प्रामाणिक नहीं मानता है।

प्रो. ए. चक्रवर्ती ने² डॉ. हारनले द्वारा प्रकाशित सरस्वती-गच्छ की दिगम्बर पट्टावलि के आधार पर कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने का काल ई. पूर्व 8 माना है और उनका जन्म ई. पूर्व 52 बतलाया है। चक्रवर्ती ने डॉ. पाठक के मत का विरोध किया है और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द का पट्टावलि-उल्लिखित समय बतलाया है।

इन्होंने पल्लवराजवंश के शिवस्कन्द को शिवकुमार मानने पर जोर दिया है। क्योंकि स्कन्द और कुमार पर्यायवाची शब्द है। अन्य परिस्थितियों से भी उन्होंने एकरूपता सिद्ध की है। पल्लवों की राजधानी 'कांजीपुरम्' में थी। ये 'थोण्डमण्डलम्' पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानों की भूमि माना जाता था। 'कांजीपुरम्' के शासक ज्ञान के भी संरक्षक थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर आठवीं शताब्दी तक 'कांजीपुरम्' के चारों ओर जैनधर्म का प्रचार होता रहा है। इसके अतिरिक्त 'मयीडबोलु' दानपत्र की भाषा प्राकृत है। इस दानपत्र को शिवस्कन्दवर्मा ने प्रचारित किया है। इसकी विषयवस्तु और भाषा मथुरा के अभिलेखों से मिलती-जुलती है। अतः

1. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ. 245

2. पंचास्तिकाय के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना

प्रो. चक्रवर्ती ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द ने जिस शिवकुमार महाराज के लिए प्राभूतत्रय लिखे थे, वह सम्भवतः पल्लववंश का शिवस्कन्द वर्मा है।

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने¹ समन्तभद्र के समयविचार-प्रसंग में लिखा है—कुन्दकुन्दाचार्य वीर नि. सं. 683 से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्य के बाद होने वाले विनयधारी आदि चार आरातीय मुनियों का एकत्र समय 20 वर्ष का और अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्द के गुरु का स्थूल समय दस-दस वर्ष का ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समय से 80 वर्ष अथवा वीर नि. 763 (683+ 20 + 60) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय के करीब पहुँच जाता है जो 'विद्वज्जन-बोधक' से उद्धृत किये हुए उक्त पद में दिया है और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है²।

मुख्तार साहब पट्टावलि पर विश्वास नहीं करते। पट्टावलि में कुन्दकुन्द का समय वि. संवत् 49 दिया गया है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में वर्णित दोनों सिद्धांतग्रन्थों की उत्पत्ति की कथा तथा गुरुपरिपाटी से दोनों सिद्धांतग्रन्थों का अध्ययन कर कुन्दकुन्द के द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 12000 श्लोक प्रमाण टीका लिखने की बात को साधार मानकर यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण संवत् 670 के लगभग हुए हैं।

मुख्तारसाहब ने शिवकुमार महाराज वाली चर्चा को उठाकर डॉ. पाठक के मत का निरसन किया है और प्रो. चक्रवर्ती के मत को भी मान्य नहीं ठहराया है। इस प्रकार मुख्तारसाहब ने कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् 608-692 के मध्य माना है।

कुन्दकुन्द के समय पर विस्तार से विचार करने वाले डॉ. ए. एन. उपाध्ये हैं। उन्होंने अपनी प्रवचनसार को विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में अपने से पूर्व प्रचलित सभी मतों की समीक्षा करते हुए स्वमत का निर्धारण किया है। डॉ. उपाध्ये ने अपने मत के निर्णय के हेतु निम्नलिखित तथ्यों पर विचार किया है—

1. भद्रबाहु का शिष्यत्व
2. श्रुतावतारानुसार षट्खण्डागम का टीकाकारित्व
3. संघभेदानन्तर प्राप्त सूचनाओं का आधारत्व
4. जयसेन एवं बालचन्द्र के उल्लेखानुसार शिवकुमार महाराज का समकालीनत्व
5. कुरलकर्तृत्व

1. रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना, पृ. 158-187।

2. रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना पृ. 161

1. डॉ. उपाध्ये का विचार है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर-श्वेताम्बर संघभेद उत्पन्न होने के पश्चात् ही हुए हैं। यदि वे पहले हुए होते तो अचेलकत्व का समर्थन और स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं करते, यतः संघभेद की उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हो चुकी थी। यही कारण है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में श्वेताम्बर प्रवृत्तियों का निषेध किया है।

2. प्रथम तथ्य पर विचार करते हुए कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली परम्परा शिष्य माना है। डॉ. उपाध्ये ने बतलाया है कि दक्षिण में जो मुनिसंघ आया था, उनमें प्रधान भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। अतः उनके संन्यास-मरण के पश्चात् भी प्रधान गुरु के रूप में उनकी मान्यता प्रचलित रही। दक्षिण में जो साधुसंघ था उसे धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकार के रूप में भद्रबाहु से ही प्राप्त हुआ था। अतः सुदूर दक्षिण देशवासी कुन्दकुन्द ने उन्हें अपना गुरु माना, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह यथार्थ है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं हैं, यतः उनका नामोल्लेख अंगधारियों में नहीं मिलता है और न ऐसी कोई किंवदन्ती ही प्राप्त होती है, जिसके आधार पर कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन माना जा सके।

3. श्रुतावतार में आया है कि कोण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने 'कषायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' इन दोनों ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर टीका लिखी, यह तथ्य असंदिग्ध नहीं है। कुन्दकुन्द की ऐसी कोई भी टीका आज नहीं मिलती और न कहीं उसके अवशेष ही मिलते हैं। अतः इन्द्रनन्दि के उक्त कथन का समर्थन अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं होता है। विबुध श्रीधर ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि कुन्दकीर्ति ने कुन्दकुन्दाचार्य से दोनों सिद्धान्तग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त करके 'षट्खण्डागम' के आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक शास्त्र लिखा। डॉ. उपाध्ये का एक अन्य तर्क यह है कि कुन्दकुन्द की प्रतिभा मौलिक ग्रन्थों के सृजन की ओर ही अधिक है। टीका या टीकाकारिका लिखने की ओर नहीं। अतएव श्रुतावतार के आधार पर कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् 683 के पश्चात् माना जाना चाहिए, यह कोई सबल प्रमाण नहीं है। सम्भव है कि कुन्दकुन्द इसके पहले हुए हों।

4. डॉ. उपाध्ये प्रो. चक्रवर्ती के इस तथ्य को समुचित मानते हैं कि शिवकुमार महाराज पल्लवराजवंशी हैं। किन्तु पल्लवराजवंश का समय अभी तक अनिर्णीत है। अतएव डॉ. उपाध्ये डॉ. पाठक के मत से असहमत होते हुए प्रो. चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महाराज और शिवस्कन्द की एकता को स्वीकार करते हैं।

5. कुरलकाव्यकर्ता के रूप में कुन्दकुन्द की मान्यता पर विचार करते हुए डॉ. उपाध्ये ने बतलाया है कि कुरलकाव्य का जैन होना सम्भव है, उसमें ऐसे अनेक तथ्य आये हैं जो अन्य धर्मों में प्राप्त नहीं होते। इस काव्य का समस्त वर्ण्य विषय जैन आचार और तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है। अतएव कुरल का कर्ता कोई जैन कवि तो अवश्य है, पर आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसके समर्थन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुन्दकुन्द का अन्य नाम एलाचार्य बताया गया है उसकी पुष्टि

भी अन्य प्रमाणों से नहीं होती। अतएव कुन्दकुन्द को ई. सन् प्रथम शताब्दी का विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक विचारक डॉ. ज्योति प्रसादजी ने विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है—All this shows that he may Safely be assigned to the early part of the first century A. D. or, to be exact, to 8 B. C.—A. D. 44.¹

अर्थात् इस आधार पर कुन्दकुन्द का समय ई. सन् की प्रथम शताब्दी आता है।

कुन्दकुन्द की रचनाएँ

दिगम्बर साहित्य के महान् प्रणेताओं में कुन्दकुन्द का मूर्धन्य स्थान है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं। इन ग्रन्थों में 1. प्रवचनसार, 2. समयसार और 3. पंचास्तिकाय ये तीन ग्रन्थ विश्रुत हैं और तत्त्वज्ञान को अवगत करने के लिए कुञ्जी हैं। शेष रचनाओं का भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

1. प्रवचनसार

यह ग्रन्थ अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य की संस्कृत टीकाओं सहित रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित है। इसमें तीन अधिकार हैं—ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व एवं अन्यत्व, सर्वज्ञ की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय आदि का प्ररूपण है। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, कर्म और कर्मफल का स्वरूप, मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के गुण, कालादिक के गुण और पर्याय, प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग, जीव का लक्षण, जीव और पुद्गल का सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहार का अविरोध एवं शुद्धात्मा आदि का प्रतिपादन है। चारित्र-अधिकार में श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, आगमज्ञान का लक्षण और मोक्षतत्त्व आदि का कथन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार इसमें 275 गाथाएँ हैं और जयसेन की टीका के अनुसार 317 हैं। इन बड़ी हुई गाथाओं का तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है—

1. नमस्कारात्मक
2. व्याख्यानविस्तारविषयक
3. अपरविषयविज्ञापनात्मक

प्रथम दो विषयों की गाथाएँ इस प्रकार की तटस्थ हैं कि जिनका अभाव खटकता नहीं है। उनके रहने पर भी प्रवचनसार के विषय में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। तृतीय विभाग की चौदह गाथाएँ विचारणीय हैं। ये गाथाएँ निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए वस्त्रपात्रादिक का तथा स्त्रियों

1. The jaina Sources of the history of ancient India, P. 124-125.

के लिए मुक्ति का निषेध करती हैं। इन गाथाओं के विषय यद्यपि कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों के विपरीत नहीं हैं, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध अवश्य हैं। अतः अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा इनके छोड़े जाने के सम्बन्ध में डॉ. उपाध्ये का कथन है—“अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद-विवाद में पड़ना नहीं चाहते थे। अतः इस बात की इच्छा रखते थे कि उनकी टीका संक्षिप्त हो एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों को न करती हुई कुन्दकुन्द के अति उदात्त उद्गारों के साथ सभी सम्प्रदायों को स्वीकृत हो।”

डॉ. उपाध्ये का उपर्युक्त मत सर्वथा समीचीन नहीं है, क्योंकि अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार के निम्न पद्य में लिखा है—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।

रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥¹

इस पद्य में श्वेताम्बर मान्यता के केवली-कवलाहार और सचेलकत्व का निषेध किया गया है। अतः श्वेताम्बर मान्यता के सिद्धान्तों की समीक्षा छोड़ देने की बात युक्त नहीं है।

2. समयसार—यह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यहाँ समय शब्द के दो अर्थ विवक्षित हैं—समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों अथवा आत्मा का सार वर्णित हो, वह समयसार है। यह भेदविज्ञान का निरूपण करता है। अनेक पदार्थों को ‘स्व’-‘स्व’ लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनसे उपादेय पदार्थ को लक्षित तथा अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेदविज्ञान कहा जाता है। यह ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है—प्रथम जीवाधिकार में ‘स्व’ समय, ‘पर’ समय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। जीव को कामभोग-विषयक बन्धकथा ही सुलभ है किन्तु आत्मा का एकत्व दुर्लभ है। एकत्व विभक्त आत्मा को निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त, अप्रमत्त दोनों दशाओं से पृथक् ज्ञायकभावमात्र है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं। निश्चय से ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है। इस अधिकार में व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ कहा है। दूसरे कर्तृकर्माधिकार में आस्रव, बन्ध आदि की पर्यायों का विवेचन किया गया है। आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम अनादि हैं। जब इन तीन प्रकार के परिणामों का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करता है। परद्रव्य के भाव का जीव कभी भी कर्ता नहीं है।

तीसरे पुण्य-पाप अधिकार में शुभाशुभ कर्मस्वभाव वर्णित हैं। अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, नियम, शील और तप मोक्ष के कारण नहीं हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादिभाव का त्याग मोक्ष का मार्ग बतलाया है। चौथे आस्रवाधिकार में मिथ्यात्व, अविरति,

1. तत्त्वार्थसार, पद्य, 5/6

प्रमाद, योग और कषाय आस्रव बतलाये गये हैं। वस्तुतः राग, द्वेष, मोहरूप परिणाम ही आस्रव हैं। ज्ञानी के आस्रव का अभाव रहता है। यतः राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम के उत्पन्न न होने से आस्रवप्रत्ययों का अभाव कहा जाता है। पाँचवें संवर अधिकार में संवर का मूल भेदविज्ञान बताया है। इस अधिकार में संवर के क्रम का भी वर्णन है। छठवें निर्जरा अधिकार में द्रव्य, भावरूप निर्जरा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ज्ञानी व्यक्ति कर्मों के बीच रहने पर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता है, पर अज्ञानी कर्मरज से लिप्त रहता है। सातवें बन्धाधिकार में बन्ध के कारण रागादि का विवेचन किया है। आठवें मोक्षाधिकार में मोक्ष का स्वरूप और नववें सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा का विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से अकर्तृत्व आदि सिद्ध किया है। अन्तिम दशम अधिकार में स्याद्वाद की दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है।

इस ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्द्र के टीकानुसार 415 गाथाएँ और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार 439 गाथाएँ हैं। शुद्ध आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

3. पञ्चास्तिकाय—इस ग्रन्थ में कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायों का निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्य को आचार्य ने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एवं सत्ता का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्यायों का कथन है और द्वितीय अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन नव पदार्थों के साथ मोक्ष-मार्ग का निरूपण किया है।

इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्राचार्य की टीका के अनुसार 173 गाथाएँ और जयसेनाचार्य के टीकानुसार 181 गाथाएँ हैं। द्रव्य के स्वरूप को अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

4. नियमसार—आध्यात्मिक दृष्टि से यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नियम से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग कहा है। अतएव सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप कथन करते हुए उसके अनुष्ठान करने एवं मिथ्यादर्शनादि के त्याग का विधान किया है। इस पर पद्मप्रभमलधारीदेव की संस्कृतटीका भी उपलब्ध है।

5. बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओं का 91 गाथाओं में वर्णन है। संसार से विरक्ति प्राप्त करने के लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है।

6. दंसणपाहुड—इस लघुकाय ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन का 36 गाथाओं में विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है।

7. चारित पाहुड—सम्यक्चारित्र का निरूपण 44 गाथाओं में किया गया है। सम्यक्चारित्र

के दो भेद किये हैं-सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। संयमाचरण के सागार और अनगार इन दो भेदों द्वारा श्रावक और मुनि-धर्म का संक्षेप में निर्देश किया है।

8. सुत्तपाहुड-27 गाथाओं में आगम का महत्त्व बतलाते हुए उसके अनुसार चलने की शिक्षा दी गयी है।

9. बोहपाहुड-62 गाथाएँ हैं। इनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनविम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या इन ग्यारह बातों का बोध दिया गया है।

10. भावपाहुड-163 गाथाओं में चित्त-शुद्धि की महत्ता का वर्णन किया है। बताया है कि परिणामशुद्धि के बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुक सकता है और न बिना भाव के कोई पुरुषार्थ ही सिद्ध होता है। इसमें कर्म की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन आया है।

11. मोक्खपाहुड-इस ग्रन्थ में 106 गाथाओं में मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा-इन तीन भेदों का स्वरूप समझाया है। मोक्ष-परमात्म-पद की प्राप्ति किस प्रकार होती है इसका निर्देश किया है।

12. लिंगपाहुड-इस लघुकाय ग्रन्थ में 22 गाथाएँ हैं। श्रमणलिंग को लक्ष्य कर मुनि-धर्म का निरूपण किया गया है।

13. शीलपाहुड-40 गाथाएँ हैं। शील ही विषयासक्ति को दूर कर मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है। जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप को शील के अन्तर्गत परिगणित किया है।

14. रयणसार-इस ग्रन्थ में रत्नत्रय का विवेचन है। 167 पद्य हैं। और किसी-किसी प्रति में 155 पद्य भी मिलते हैं। गृहस्थ और मुनियों को रत्नत्रय का पालन किस प्रकार करना चाहिए, यह इसमें वर्णित है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये इस ग्रन्थ को गाथा-विभेदविचार, पुनरावृत्ति, अपभ्रंशपद्यों की उपलब्धि एवं गण-गच्छादि के उल्लेख मिलने से कुन्दकुन्द की होने में आशंका प्रकट करते हैं। वस्तुतः शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता। परम्परा से यह कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत माना जाता है।

15. सिद्ध-भक्ति-यह स्तुति परक ग्रन्थ है। 12 गाथाओं में सिद्धों के गुण-भेद, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि-मार्ग का निरूपण किया गया है। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य की एक संस्कृत टीका है। इस टीका के अन्त में लिखा है कि संस्कृत की सब भक्तियाँ पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित हैं और प्राकृत की भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा निर्मित¹ हैं।

1. संस्कृताः सर्वा विभक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।

-प्रभाचन्द्रटीका, अन्तिम अंश।

16 सुदभक्ति—इस भक्तिपाठ में 11 गाथाएँ हैं। इसमें आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादश अंगों का भेद-प्रभेद सहित उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। साथ ही 14 पूर्वों में से प्रत्येक की वस्तु संख्या और प्रत्येक वस्तु के प्राभूतों की संख्या भी दी है।

17. चारित्त-भक्ति—10 अनुष्टुप् गाथाछन्द हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात नाम के चारित्रों, अहिंसादि 28 मूलगुणों, दस धर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहों के जय और उत्तरगुणों का उल्लेख करते हुए मुक्तिसुख देने वाले चारित्र की भावना की गयी है।

18. जोड़भक्ति—23 गाथाओं में योगियों की अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों एवं गुणों के साथ उन्हें नमस्कार किया गया है।

19. आइरियभक्ति—इसमें 10 गाथाएँ हैं और इनमें आचार्यों के उत्तम गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

20. णिव्वाणभक्ति—इस भक्तिपाठ में 27 गाथाएँ हैं। इनमें निर्वाण का स्वरूप एवं निर्वाण-प्राप्त तीर्थकरों की स्तुति की गयी है।

21. पंचगुरुभक्ति—इस भक्तिपाठ में सात पद्य हैं। प्रारम्भिक पाँच पद्यों में क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों का स्तवन है। छठे पद्य में स्तवन का फल अङ्कित है। सप्तम पद्य में इन पाँच परमेष्ठियों का अभिधान पंच नमस्कार में किया है।

22. थोस्सामि थुदि (तित्थयर-भक्ति) ‘थोस्सामि’ पद से आरम्भ होने वाली अष्टगाथात्मक स्तुति है। इसे तीर्थकर-भक्ति भी कहा गया है। इस स्तुतिपाठ में वृषभादि वर्धमान पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थकरों की उनके नामोल्लेखपूर्वक वन्दना की गई है और तीर्थकरों के लिए जिन, जिनवर, जिनेन्द्र, केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थकर, विधूतरजोमल, लोकोद्योतकर आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अन्त में समाधि, बोधि और सिद्धि की प्रार्थना की गयी है।

इस भक्तिपाठ के कतिपय पद्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पद्यों के समान हैं। और कुछ भिन्न हैं। यथा—

लोयस्सुज्जोयये धम्मं-तित्थंकरे जिणे वंदे।

अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणे॥—दिगम्बर पाठ

लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थये जिणे।

अरहंते कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली॥—श्वेताम्बर पाठ

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द अपूर्व प्रतिभा के धनी और शास्त्रपारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि को भी प्रश्रय दिया

है। अतएव इन दोनों ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीवादि पदार्थों का विवेचन करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि को अंगीकृत किये बिना कार्य नहीं चल सकता। अतएव द्रव्यार्थिक नय से जहाँ जीव के नित्य-अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के अनित्य-परिणामी स्वभाव का भी वर्णन रहता है। यों तो द्रव्य-गुण और पर्यायों का एक अखण्ड पिण्ड है, तो भी उनका अस्तित्व प्रकट करने के लिए भेद को स्वीकार किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म स्वरूप का विवेचन किया है। इसके साथ-साथ इन ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन स्वरूप प्राप्त होते हैं इस दृष्टि में गुणस्थान और मार्गणाओं के भेदों का अस्तित्व स्वीकृत नहीं रहता। यह दृष्टि परनिरपेक्ष आत्मस्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चयनय को ही भूतार्थ तथा व्यवहार को हेय मानती है। यहाँ एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नहीं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक और शास्त्रीय दृष्टियों का विश्लेषण एवं विवेचन कर आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। इन दोनों दृष्टियों के सम्बन्ध में सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने लिखा है— “शास्त्रीय’ दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्तकारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है, जितना उपादान कारण के व्यापार का और परसंयोग-जन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है, जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादानकारण के बिना कार्य नहीं होता, वैसे ही निमित्तकारण के बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्य की उत्पत्ति में दोनों का समव्यापार है...शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु-विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है।”

“शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। इसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है²।”

अतएव संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपूर्व पाण्डित्य, उनकी शास्त्रग्रन्थन-प्रतिभा एवं सिद्धान्तग्रन्थों के सार-भाग को आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोग के रूप में प्रस्तुतीकरण आदि उनकी विशेषताएँ हैं।

साभार-

भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

भाग-2 से

1. कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ-82

2. वही, पृष्ठ-83

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और उनके ग्रन्थ

- प. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्राकृत दिगम्बर जैनवाङ्मय में सबसे अधिक ग्रन्थ (२२ या २३) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के उपलब्ध हैं, जो ८४ पाहुड ग्रन्थों के कर्ता प्रसिद्ध हैं और जिनके विदेह-क्षेत्र में श्रीसीमन्धर-स्वामी के समवसरण में जाकर साक्षात् तीर्थकरमुख तथा गणधरदेव से बोध प्राप्त करने की कथा भी सुप्रसिद्ध है¹ और जिनका समय विक्रम की प्रायः प्रथम शताब्दी माना जाता है।

यहाँ पर मैं इन ग्रन्थकार-महोदय के सम्बन्ध में इतना और बतला देना चाहता हूँ कि इनका पहला-सम्भवतः दीक्षाकालीन नाम पद्मनन्दी था²; परन्तु ये कोण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्य के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुए हैं, जिसका कारण 'कोण्डकुन्दपुर' के अधिवासी होना बतलाया जाता है, इसी नाम से इनकी वंशपरम्परा चली है अथवा 'कुन्दकुन्दान्वय' स्थापित हुआ है, जो अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर दूर-दूर तक फैला है। मर्करा के ताम्र पत्र में, जो शक संवत् ३८८ में उत्कीर्ण हुआ है, इसी कोण्डकुन्दान्वय की परम्परा में होने वाले छह पुरातन आचार्यों का गुरु-शिष्य के क्रम से उल्लेख है³। ये मूलसंघ के प्रधान आचार्य थे, पूतात्मा थे, सत्संयम एवं तपश्चरण के प्रभाव से इन्हें चारण-ऋद्धि की प्राप्ति हुई थी और उसके बल पर ये पृथ्वी से प्रायः चार अंगुल

1. देवसेनाचार्य ने भी, अपने दर्शनसार (वि. सं. ९९०) की निम्न गाथा में, कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) के सीमन्धर-स्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त करने की बात लिखी है:-

जइ पउमणदि-णाहो सीमन्धरसामि-दिव्वणाणेण।

ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

2. तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि-प्रथमाभिधानः।
श्रीकौडकुन्दादिमुनीश्वर राख्यस्ससंयमादुद्गत-चारणाद्धिः॥

—श्रवणबेलगोल-शिलालेख नं. ४०

3. देखो, कुर्ग-इन्स्क्रिपशन्सका निम्न अंश :- (E.C.I.)

“.....श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य अभयणंदिभटारतस्य शिष्यस्य शीलभद्र भटार-शिष्यस्य जनानंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदिभटार-शिष्यस्य वन्दणन्दि-भटारगर्गे अष्ट-अशीतिउत्तरस्य त्रयो-शतस्य सम्वत्सरस्य माघमासे

ऊपर अन्तरिक्ष में चला करते थे। इन्होंने भरत क्षेत्र में श्रुत की—जैन आगम की—प्रतिष्ठा की है—उसकी मान्यता एवं प्रभाव को स्वयं के आचरणादि द्वारा (खुद आमिल बनकर) ऊँचा उठाया तथा सर्वत्र व्याप्त किया है अथवा यों कहिये कि आगम के अनुसार चलने को खास महत्व दिया है, ऐसा श्रवणबेलगोल के शिलालेखों आदि से जाना जाता है¹। ये बहुत ही प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित आचार्य हुए हैं। मंगलाचरण ‘मङ्गलं भगवान् वीरो’ इत्यादि किया जाता है उसमें ‘मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो’ इस रूप से इनके नाम का खास उल्लेख है।

आपके उपलब्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

१ प्रवचनसार, २ समयसार, ३ पंचास्तिकाय—ये तीनों ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में प्रधान स्थान रखते हैं, बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और अखिल जैन समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। पहले का विषय ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप तत्त्व-त्रय के विभाग से तीन अधिकारों में विभक्त है, दूसरे का विषय शुद्ध आत्मत्व है और तीसरे का विषय कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश नाम के पाँच द्रव्यों का सविशेष रूप से वर्णन है। प्रत्येक ग्रंथ अपने-अपने विषय में बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। हर एक का यथेष्ट परिचय उस ग्रंथ को स्वयं देखने से ही सम्बन्ध रखता है।

इन पर अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य की खास संस्कृत टीकाएँ हैं, तथा बालचन्द्रदेव की कन्नड टीकाएँ भी हैं, और भी दूसरी कुछ टीकाएँ प्रभाचन्द्रादि की संस्कृत तथा हिन्दी आदि की उपलब्ध हैं। अमृतचन्द्राचार्य की टीकानुसार प्रवचनसार में २७५ समयासार में ४१५ और पंचास्तिकाय में १७३ गाथाएँ हैं; जबकि जयसेनार्चा की टीका के पाठानुसार इन ग्रंथों में गाथाओं की संख्या क्रमशः ३११, ४३९ १८१ है। संक्षेप में, जैन धर्म का मर्म अथवा उसके तत्त्व ज्ञान को समझने के लिए ये तीनों ग्रंथ बहुत ही उपयोगी हैं।

४. नियमसार—कुन्दकुन्द का यह ग्रंथ भी महत्वपूर्ण है और अध्यात्म-विषय को लिये हुए है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नियम से किया जाने वाला कार्य एवं मोक्षोपाय बतलाया है और मोक्ष के उपायभूत सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप कथन

1. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्तिविभूषिताशः।

यश्चारु-चारण-काराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे-श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥

—श्र. शि. ५४

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।

रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥

—श्र. शि. २०५

करते हुए उनके अनुष्ठान का तथा उनके विपरीत मिथ्यादर्शनादि के त्याग का विधान किया है और इसी को (जीवन का) सार निर्दिष्ट किया है। इन ग्रन्थ पर एक मात्र संस्कृत टीका पद्मप्रभमलधारिदेव की उपलब्ध है और उसके अनुसार ग्रन्थ की गाथा-संख्या १८७ है। टीका में मूल को द्वादश श्रुतस्कन्धरूप जो १२ अधिकार में विभक्त किया है वह विभाग मूलकृत नहीं है—मूल पर से उसकी उपलब्धि नहीं होती, मूल को समझने में उससे कोई मदद भी नहीं मिलती और न मूलकार का वैसा कोई अभिप्राय ही जाना जाता है। उसकी सार जिम्मेदारी टीकाकार पर है। इस टीका ने मूल को उल्टा कठिन कर दिया है। टीका में बहुधा मूल का आश्रय छोड़कर अपना ही राग अलापा गया है—मूल का स्पष्टीकरण जैसा चाहिये था वैसा नहीं किया। टीका के बहुत से वाक्यों और पद्यों का सम्बन्ध परस्पर में नहीं मिलता। टीकाकार का आशय अपनी गद्य-पद्यात्मक काव्यशक्ति को प्रकट करने का अधिक रहा है—उसके काव्यों का मूल के साथ मेल बहुत कम है। अध्यात्म-कथन होने पर भी जगह-जगह पर स्त्री का अनावश्यक स्मरण किया गया है और अलंकार रूप में उसके लिये उत्कंठा व्यक्त की गई है, मानो सुख स्त्री में ही है। इस ग्रंथ का टीका सहित हिन्दी अनुवाद ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी ने किया है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।

५. **बारस-अणुवेम्बा** (द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें १ अध्रुव व (अनित्य), २ अशरण, ३ एकत्व, ४ अन्यत्व, ५ संसार, ६ लोक, ७ अशुचित्य, ८ आस्रव, ९ संवर, १० निर्जरा, ११ धर्म, १२ बोधिदुर्लभ नाम की बारह भावनाओं का ९१ गाथाओं में सुन्दर वर्णन है। इस ग्रंथ की 'सव्वे वि पोग्गला खलु' इत्यादि पांच गाथाएँ (नं. २५ से २९) श्रीपूज्यपादाचार्य-द्वारा, जो कि विक्रम की छठी शताब्दी के विद्वान् हैं, सर्वार्थसिद्धि के द्वितीय अध्यायान्तर्गत दसवें सूत्र की टीका में 'उक्तं च' रूप से उद्धृत की गई हैं।

६. **दंसणपाहुड**—इसमें सम्यग्दर्शन के माहात्म्यादिका वर्णन ३६ गाथाओं में है और उससे यह जाना जाता है कि सम्यग्दर्शन को ज्ञान और चारित्र पर प्रधानता प्राप्त है। वह धर्म का मूल है और इसलिये जो सम्यग्दर्शन से, जीवादि तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान से, भ्रष्ट है उसको सिद्धि अथवा मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

७. **चारित्तपाहुड**—इस ग्रंथ की गाथा संख्या ४४ और उसका विषय सम्यक् चारित्र है। सम्यक्चारित्र को सम्यक्त्वचरण और संयमचरण ऐसे दो भेदों में विभक्त करके उनका अलग-अलग स्वरूप दिया है और संयमचरण के सागर अनगर ऐसे दो भेद करके उनके द्वारा क्रमशः श्रावकधर्म तथा यतिधर्म का अतिसंक्षेप में प्रायः सूचनात्मक निर्देश किया है।

८. **सुत्तपाहुड**—यह ग्रंथ २७ गाथात्मक है। इसमें सूत्रार्थ की मार्गणा का उपदेश है—आगम का महत्व ख्यापित करते हुए उसके अनुसार चलने की शिक्षा दी गई है। साथ ही सूत्र (आगम) की कुछ बातों का स्पष्टता के साथ निर्देश किया गया है, जिनके संबंध में उस समय कुछ विप्रतिपत्ति या गलतफहमी फैली हुई थी अथवा प्रचार में आ रही थी।

९. **बोधपाहुड**—इस पाहुड का शरीर ६२ गाथाओं से निर्मित है। इनमें १ आयतन, २ चैत्यगृह, ३ जिनप्रतिमा, ४ दर्शन, ५ जिनबिम्ब, ६ जिनमुद्रा, ७ आत्मज्ञान, ८ देव, ९ तीर्थ, १० अर्हन्त, ११ प्रव्रज्या इन ग्यारह बातों का क्रमशः आगमानुसार बोध दिया गया है। इस ग्रंथ की ६१वीं गाथा में^१ कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य प्रकट किया है। जो संभवतः भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं; क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय में जिन कथित श्रुत में ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था जिसे उक्त गाथा में ‘सद्वियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं’ इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहु के समय में वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषा-सूत्रों में परिवर्तित हो गया था। इससे ६१वीं गाथा के भद्रबाहु, भद्रबाहु द्वितीय ही जान पड़ते हैं। ६२वीं गाथा में उसी नाम से प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहु का जो कि बारह अंग और चौदहपूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगल के रूप में जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर ‘गमकगुरु’ लिखा है। इस तरह अन्त की दोनों गाथाओं में दो अलग अलग भद्रबाहुओं का उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।

१०. **भावपाहुड**—१६३ गाथाओं का यह ग्रन्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें भाव की व चित्तशुद्धि की महत्ता को अनेक प्रकार से सर्वोपरि ख्यापित किया गया है। बिना भाव के बाह्यपरिग्रह का त्याग करके नग्न दिगम्बर साधु तक होने और वन में बैठने को भी व्यर्थ ठहराया है। परिणाम-शुद्धि के बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुकता और न बिना भाव के कोई पुरुषार्थ ही सधता है, भाव के बिना सब कुछ निःसार है इत्यादि अनेक बहुमूल्य शिक्षाओं एवं मर्मकी बातों से यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। इसकी कितनी ही गाथाओं का अनुसरण गुण-भद्राचार्य ने अपने आत्मानुशासन ग्रन्थ में किया है।

११. **मोक्खपाहुड**—यह मोक्ष-प्राप्त भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसकी गाथा-संख्या १०६ है। इसमें आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद

1. सद्वियारो हूओ भासा-सुत्तेसु जं जिणे कहियं।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्रबाहुस्स॥६१॥

करके उनके स्वरूप को समझाया है तथा मुक्ति अथवा परमात्मपद कैसे प्राप्त हो सकता है इसका अनेक प्रकार से निदेश किया है। इस ग्रन्थ के कितने ही वाक्यों का अनुसरण पूज्यपाद आचार्य ने अपने 'समाधितंत्र' ग्रन्थ में किया है।

इन दंशणापाहुड से मोक्खपाहुड तक के छह प्राभृत ग्रन्थों पर श्रुतसागरसूरि की टीका भी उपलब्ध है, जो कि माणिकचन्द-ग्रंथमाला के षट्प्राभृतादिसंग्रह में मूल-ग्रंथों के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

१२. लिंगपाहुड—यह द्वाविंशति (२२) गाथात्मक ग्रंथ है। इसमें श्रमण लिङ्ग को लक्ष्य में लेकर उन आचरणों का उल्लेख किया गया है जो इस लिङ्गधारी जैन साधु के लिये निषिद्ध हैं और साथ ही उन निषिद्ध आचरणों का फल भी नरकवासादि बतलाया गया है तथा उन निषिद्धाचार में प्रवृत्ति करने वाले लिङ्गभाव से शून्य साधुओं को श्रमण नहीं माना है—तिर्यञ्चयोनि बतलाया है।

१३. शीलपाहुड—यह ४० गाथाओं का ग्रन्थ है। इसमें शील का, विषयों से विराग का, महत्व ख्यापित किया है और उसे मोक्ष-सोपान बतलाया है। साथ ही जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप को शील का परिवार घोषित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रंथ का विषय गृहस्थों तथा मुनियों के रत्नत्रय-धर्म-सम्बन्धी कुछ विशेष कर्तव्यों का उपदेश अथवा उनकी उचित-अनुचित प्रवृत्तियों का कुछ निर्देश है। परन्तु यह ग्रंथ अभी बहुत कुछ संदिग्ध स्थिति में स्थित है, जिस रूप में अपने को प्राप्त हुआ है उससे न तो इसकी ठीक पद्य-संख्या ही निर्धारित की जा सकती है और न इसके पूर्णतः मूलरूप का ही कोई पता चलता है। माणिकचन्द-ग्रंथमाला के षट्प्राभृतादि-संग्रह में इस ग्रंथ की पद्य संख्या १६७ दी है। साथ ही फुटनोट में सम्पादक ने जिन दो प्रतियों (क-ख) का तुलनात्मक उल्लेख किया है उस पर से दोनों प्रतियों में पद्यों की संख्या बहुत कुछ विभिन्न (हीनाधिक) पाई जाती है और उनका कितना ही क्रमभेद भी उपलब्ध है—सम्पादन में जो पद्य प्रति में पाये गये उन सबको ही बिना जांच के यथेच्छ क्रम के साथ ले लिया गया है। देहली के पंचायती मन्दिर की प्रति से जब मैंने इस मा. ग्र. संस्करण की तुलना की तो मालूम हुआ कि उसमें इस ग्रंथ की १२ गाथाएँ नं. ८, ३४, ३७, ४६, ५५, ५६, ६३, ६७, ११३, १२५, १२६ नहीं हैं और इसलिये उसमें ग्रंथ की पद्यसंख्या १५५ है। साथ ही उसमें इस ग्रंथ की गाथा नं. १७, १८ को आगे-पीछे; ५२ व ५३, ९१ व ९६ को क्रमशः १६३ के बाद, ५४ को १६४ के बाद, ६० को १६५ के पश्चात्, १०१ व १०२ को

आगे पीछे; ११० व १११ को १६२ के अनन्तर, १२१ को ११९ के पूर्व और १२२ को १५४ के बाद दिया है। पं. कलापा भरमापा नितवे ने इस ग्रंथ को सन् १९०७ में मराठी अनुवाद के साथ मुद्रित कराया था उसमें भी यद्यपि पद्य-संख्या १५५ है, और क्रमभेद भी देहली-प्रति-जैसा है, परन्तु उक्त १२ गाथाओं में से ६३वीं गाथा का अभाव नहीं है, वह मौजूद है; किन्तु मा. ग्र. संस्करण की ३५वीं गाथा नहीं है, जो कि देहली की उक्त प्रति में उपलब्ध है। इस तरह ग्रंथप्रतियों में पद्य-संख्या और उनके क्रम का बहुत बड़ा भेद पाया जाता है।

इसके सिवाय, कुछ अपभ्रंश भाषा के पद्य भी इन प्रतियों में उपलब्ध होते हैं, एक दोहा भी गाथाओं के मध्य में आ घुसा है, विचारों की पुनरावृत्तियों के साथ कुछ बेतरतीबी भी देखी जाती है, गण-गच्छादि के उल्लेख भी मिलते हैं और ये सब बातें कुन्दकुन्द के ग्रंथों की प्रकृति के साथ संगत मालूम नहीं होती, मेल नहीं खाती। और इसलिये विद्वद्गुरु प्रोफेसर ए. एन. उपध्ये ने (प्रवचनसार की अंग्रेजी प्रस्तावना में) इस ग्रंथ पर अपना जो यह विचार व्यक्त किया है वह ठीक ही है कि—‘रयणसार ग्रंथ गाथाविभेद, विचारपुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्यों की उपलब्धि, गण-गच्छादि उल्लेख और बेतरतीबी आदि को लिये हुए जिस स्थिति में उपलब्ध है उस पर से वह पूरा ग्रंथ कुन्दकुन्द का नहीं कहा जा सकता—कुछ अतिरिक्त गाथाओं की मिलावट ने उसके मूल में गड़बड़ उपस्थित कर दी है। इसलिये जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जाएँ तब तक यह बात विचाराधीन ही रहेगी कि कुन्दकुन्द इस समग्र रयणसार ग्रंथ के कर्त्ता हैं।’ इस ग्रंथ पर संस्कृत की कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

१५. **सिद्धभक्ति**—यह १२ गाथाओं का एक स्तुतिपरक ग्रंथ है, जिसमें सिद्धों की, उनके गुणों, भेदों, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि के मार्ग तथा क्रम का उल्लेख करते हुए, अति-भक्ति भाव के साथ वन्दना की गई है। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य की एक संस्कृत टीका है, जिसके अन्त में लिखा है कि—“संस्कृता-सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः” अर्थात् संस्कृत की सब भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामी की बनाई हुई हैं और प्राकृत की सब भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्यकृत हैं। दोनों प्रकार की भक्तियों पर प्रभाचन्द्राचार्य की टीकाएँ हैं। इस भक्ति पाठ के साथ में कहीं-कहीं कुछ दूसरी पर उसी विषय की, गाथाएँ भी मिलती हैं, जिन पर प्रभाचन्द्र की टीका नहीं है और जो प्रायः प्रक्षिप्त जान पड़ती है; क्योंकि उनमें से कितनी ही दूसरे ग्रंथों की अंगभूत हैं। शोलापुर से ‘दशभक्ति’ नाम का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसमें ऐसी ८ गाथाओं का शुरू में एक संस्कृतपद्य-सहित अलग क्रम दिया है। इस क्रम की ‘गमणागमणविमुक्के’ और ‘तवसिद्धे णयसिद्धे’ नाम की गाथाएँ ऐसी हैं जो दूसरे ग्रंथों में नहीं पाई गई।

१६. **श्रुतभक्ति**—यह भक्तिपाठ एकादश-गाथात्मक है। इसमें जैनश्रुत के आचाराङ्गादि द्वादश अंगों का भेद-प्रभेद-सहित उल्लेख करके उन्हें नमस्कार किया गया है। साथ ही, १४ पूर्वों में से प्रत्येक की वस्तु संख्या और प्रत्येक वस्तु के प्राभृतों (पाहुडों) की संख्या भी दी है।

१७. **चारित्रभक्ति**—इस भक्तिपाठ की पद्य संख्या १० है और वे अनुष्टुप् छन्द में हैं। इसमें श्री वर्द्धमान-प्रणीत सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंयम (सूक्ष्मसाम्पराय) और यथाख्यात नाम के पाँच चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों तथा दशधर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहों के जय और उत्तरगुणों का उल्लेख करके उनकी सिद्धि और सिद्धि-फल मुक्ति सुख की भावना की है।

१८. **योगि (अनगार) भक्ति**—यह भक्तिपाठ २३ गाथाओं को अङ्गुरूप में लिये हुए है। इसमें उत्तम अनगारों-योगियों की अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों तथा गुणों के उल्लेखपूर्वक उन्हें बड़ी भक्तिभाव के साथ नमस्कार किया है, योगियों के विशेषणरूप गुणों के कुछ समूह परिसंख्यानात्मक पारिभाषिक शब्दों में दो की संख्या से लेकर चौदह तक दिये हैं; जैसे 'दोदोसविप्पमुक्कं' तिदंडबिरदं, तिसल्लपरिसुद्धं, तिण्णयगारवरहिम्भं, तियरणसुद्धं, चउदसगंथपरिसुद्धं, चउदसपुव्वपगब्भ और चउसमलविवज्जिद' इस भक्ति पाठ के द्वारा जैन साधुओं के आदर्श-जीवन एवं चर्या का अच्छा स्पृहणीय सुन्दर स्वरूप सामने आ जाता है। कुछ ऐतिहासिक बातों का भी पता चलता है, और इससे यह भक्तिपाठ बड़ा ही महत्वपूर्ण जान पड़ता है।

१९. **आचार्यभक्ति**—इसमें १० गाथाएँ हैं और उनमें उत्तम-आचार्यों के गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। आचार्य परमेष्ठी किन-किन खास गुणों से विशिष्ट होने चाहियें, यह इस भक्तिपाठ से भली प्रकार जाना जाता है।

२०. **निर्वाणभक्ति**—इसकी गाथासंख्या २७ है। इसमें प्रधानतया निर्वाण को प्राप्त हुए तीर्थंकरों तथा दूसरे पूतात्म-पुरुषों के नामों का, उन स्थानों के नाम-सहित स्मरण तथा वन्दन किया गया है जहाँ से उन्होंने निर्वाण-पद की प्राप्ति की है। साथ ही, जिन स्थानों के साथ ऐसे व्यक्ति-विशेषों की कोई दूसरी स्मृति खासतौर पर जुड़ी हुई है ऐसे अतिशय क्षेत्रों का भी उल्लेख किया गया है और उनकी तथा निर्वाणभूमियों की भी वन्दना की गई है। इस भक्तिपाठ पर से कितनी ही ऐतिहासिक तथा पौराणिक बातों एवं अनुश्रुतियों की जानकारी होती है, और इस दृष्टि से यह पाठ अपना खास महत्व रखता है।

२१. **पंचगुरु (परमेष्ठी) भक्ति**—इसकी पद्यसंख्या ७ (६) है। इसके प्रारम्भिक पाँच पद्यों में क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे पाँच गुरुवों-परमेष्ठियों का

स्तोत्र है, छोटे पद्य में स्तोत्र का फल दिया है और ये छहों पद्य सृग्विणी छंद में हैं। अंत का ७वां पद्य गाथा है, जिसमें अर्हतादि पंच परमेष्ठियों के नाम देकर और उन्हें पंचनमस्कार (णमोकार मंत्र) के अंगभूत बतलाकर उनसे भवभव में सुख की प्रार्थना की गई है। यह गाथा प्रक्षिप्त जान पड़ती है। इस भक्ति पर प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका नहीं है।

२२. थोस्सामि थुदि—(तीर्थकरभक्ति)—यह ‘थोस्सामि’ पद से प्रारंभ होने वाली अष्टगाथात्मक स्तुति है जिसे ‘तित्थयरभक्ति’ (तीर्थकरभक्ति) भी कहते हैं। इसमें वृषभादि-वर्द्धमान-पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थकरों की, उनके नामोल्लेख-पूर्वक, वन्दना की गई है और तीर्थकरों के लिये जिन, जिनवर, जिनवरेन्द्र, नरप्रवर, केवली अननन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थकर, विधूत-रज-मल, लोकोद्योतकर, अर्हन्त, प्रहीन-जर-मरण, लोकोत्तम, सिद्ध, चन्द्र-निर्मलतर, आदित्याधिकप्रभ और सागरमिव गम्भीर जैसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अन्त में उनसे आरोग्यज्ञान-लाभ (निरावरण अथवा मोहविहीन ज्ञानप्राप्ति), समाधि (धर्म्य-शुक्लध्यानरूप चारित्र), बोधि (सम्यग्दर्शन) और सिद्धि (स्वात्मोपलब्धि) की प्रार्थना की गई है। यह भक्तिपाठ प्रथम पद्य को छोड़कर शेष सात पद्यों के रूप में थोड़े से परिवर्तनों अथवा पाठ-भेदों के साथ, श्वेताम्बर समाज में भी प्रचलित है और इसे ‘लोगस्स सूत्र’ कहते हैं। इस सूत्र में ‘लोगस्स’ नाम के प्रथम पद्य का छांदसिक रूप शेष पद्यों से भिन्न है—शेष छहों पद्य जब गाथा रूप में पाये जाते हैं तब यह अनुष्टुप्—जैसे छंद में उपलब्ध होता है, और यह भेद ऐसे छोटे ग्रंथ में बहुत ही खटकता है—खासकर उस हालत में जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय में यह अपने गाथा रूप में ही पाया जाता है। यहाँ पाठ भेदों की दृष्टि से दोनों सम्प्रदायों के दो पद्यों को तुलना के रूप में रक्खा जाता है:—

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं-तित्थंकरे जिणे वंदे।

अरहन्ते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणे॥२॥—दिगम्बरपाठ

लोगस्स उज्जोग्रगरे धम्मतित्थयरे जिणे।

अरहन्ते कित्तिइस्सं चउवीसं पि केवली॥१॥—श्वेताम्बरपाठ

कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।

आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं॥७॥—दिगम्बरपाठ

कित्तिय वंदिय महिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।

आरुग्ग-बोहिलाहं समाहिवरमुत्तमं दिंतु॥६॥—श्वेताम्बरपाठ¹

1. दोनों पद्यों का श्वेताम्बर पाठ पं. सुखलाल जी द्वारा सम्पादित ‘पंचप्रतिक्रमण’ ग्रन्थ से लिया गया है।

इन दोनों नमूनों से पाठक इस स्तुति की साम्प्रदायिक स्थिति और मूल में एकता का अच्छा अनुभव कर सकते हैं। हो सकता है कि यह स्तुति पाठ और भी अधिक प्राचीन-सम्प्रदाय-भेद से बहुत पहले का हो और दोनों सम्प्रदायों ने इसे थोड़े से परिवर्तन के साथ अपनाया हो। अस्तु।

कुन्दकुन्द के ये सब ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

२३. **मूलाचार और वट्टकेर**—‘मूलाचार’ जैन साधुओं के आचार-विषय का एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। वर्तमान में दिगम्बर-सम्प्रदाय का ‘आचाराङ्ग’ सूत्र समझा जाता है। धवला टीका में आचाराङ्ग के नाम से उसका नमूना प्रस्तुत करते हुए कुछ गाथाएँ उद्धृत हैं, वे भी इस ग्रन्थ में पाई जाती हैं; जबकि श्वेताम्बरों के आचाराङ्ग में वे उपलब्ध नहीं हैं। इससे भी इस ग्रन्थ को आचाराङ्ग की ख्याति प्राप्त है। इस पर ‘आचारवृत्ति’ नाम की एक टीका आचार्य वसुनन्दी की उपलब्ध है, जिसमें इस ग्रन्थ को आचाराङ्ग का उन्हीं पूर्वनिबद्ध द्वादश अधिकारों में उपसंहार (सारोद्धार) बतलाया, और उसके तथा भाषाटीका के अनुसार इस ग्रन्थ की पद्य संख्या १२४३ है। वसुनन्दी आचार्य ने अपनी टीका में इस ग्रन्थ के कर्ता को वट्टकेराचार्य, वट्टकेचार्याचार्य तथा वट्टेरकाचार्य के रूप में उल्लेखित किया है। पहला रूप टीका के प्रारम्भिक प्रस्तावना-वाक्य में, दूसरा ९वें १०वें, ११वें अधिकारों के सन्धिवाक्यों में और तीसरा ७वें अधिकार के सन्धि-वाक्य में पाया जाता है¹। परन्तु इस नाम के किसी भी आचार्य का उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों, शिलालेखों तथा ग्रन्थप्रशस्तियों आदि में कहीं भी देखने में नहीं आता; और इसलिये ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्चस्कालरों के सामने यह प्रश्न बराबर खड़ा हुआ है कि ये वट्टकेरादि नाम के कौन से आचार्य हैं और कब हुए हैं?

मूलाचार की कितनी ही ऐसी पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं जिनमें ग्रन्थकर्ता का नाम कुन्दकुन्दाचार्य दिया हुआ है। डाक्टर ए.एन. उपाध्ये को दक्षिण भारत की ऐसी कुछ प्रतियों को स्वयं देखने का अवसर मिला है और जिन्हें, प्रवचनसार की प्रस्तावना में, उन्होंने quite genuine in their appearance—‘अपने रूप में बिना किसी मिलावट के बिल्कुल असली प्रतीत होने वाली’ लिखा है। इसके सिवाय, माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला में मूलाचार की जो सटीक प्रति प्रकाशित हुई है उसकी अन्तिम पुष्पिका में भी मूलाचार को ‘कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत’ लिखा है। वह पुष्पिका इस प्रकार है:—

“इति मूलाचार-विवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत- मूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।”

1. दोनों, माणिकचन्दग्रन्थमाला में प्रकाशित ग्रन्थ के दोनों भाग नं. १९, २३।

यह सब देखकर मेरे हृदय में ख्याल उत्पन्न हुआ कि कुन्दकुन्द एक बहुत बड़े प्रवर्तक आचार्य हुए हैं—आचार्य-भक्ति में उन्होंने स्वयं आचार्य के लिये ‘प्रवर्तक’ होना बहुत बड़ी विशेषता बतलाया है¹ और ‘प्रवर्तक’ विशिष्ट साधुओं की एक उपाधि है, जो श्वेताम्बर जैन समाज में आज भी व्यवहृत है। हो सकता है कि कुन्दकुन्द के इस प्रवर्तकत्व-गुण को लेकर ही उनके लिये यह ‘वट्टकेर’ जैसे पद का प्रयोग किया गया हो। और इसलिए मैंने वट्टकेर, वट्टकेरि और वट्टेरक इन तीनों शब्दों के अर्थ पर गम्भीरता के साथ विचार करना उचित समझा। तदनुसार मुझे यह मालूम हुआ कि ‘वट्टक’ का अर्थ वर्तक-प्रवर्तक है, ‘इरा’ गिरा-वाणी-सरस्वती को कहते हैं, जिसकी वाणी-प्रवर्तिका हो, जनता को सदाचार एवं सन्मार्ग में लगाने वाली हो, उसे ‘वट्टकेर’ समझना चाहिये। दूसरे, वट्टकों, प्रवर्तकों में जो इरि = गिरि-प्रधान-प्रतिष्ठित हो अथवा ईरि = समर्थ-शक्तिशाली हो उसे ‘वट्टकेरि’ जानना चाहिये। तीसरे, ‘वट्ट’ नाम वर्तन-आचरण का है और ‘ईरक’ प्रेरक तथा प्रवर्तक को कहते हैं, सदाचार में जो प्रवृत्ति कराने वाला हो उसका नाम ‘वट्टेरक’ है; अथवा ‘वट्ट’ नाम मार्ग का है। सन्मार्ग का जो प्रवर्तक, उपदेश एवं नेता हो उसे भी ‘वट्टेरक’ कहते हैं। इसलिये अर्थ की दृष्टि से ये वट्टकेरादि पद कुन्दकुन्द के लिये बहुत ही उपयुक्त तथा संगत मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं जो प्रवर्तकत्व-गुण की विशिष्टता के कारण ही कुन्दकुन्द के लिये वट्टेरकाचार्य (प्रवर्तकाचार्य) जैसे पद का प्रयोग किया गया हो। मूलाचार की कुछ प्राचीन प्रतियों में ग्रन्थकृतत्व रूप से कुन्दकुन्द का स्पष्ट नामोल्लेख उसे और भी अधिक पुष्ट करता है। ऐसी वस्तु-स्थिति में सुहृद् पं. नाथूरामजी प्रेमी ने जैन सिद्धान्तभास्कर (भाग १२ किरण १) में प्रकाशित ‘मूलाचार के कर्ता वट्टकेरि’ शीर्षक अपने हाल के लेख में, जो यह कल्पना की है कि, बेट्टगेरि या बेट्टकेरि नाम के कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं, मूलाचार के कर्ता उन्हीं में से किसी बेट्टकेरी या वेट्टकेरी ग्राम के ही रहने वाले होंगे और उस पर से कोण्डकुन्दादि की तरह ‘बेट्टकेरि’ कहलाने लगे होंगे, वह कुछ संगत मालूम नहीं होती—बेट्ट और वट्ट शब्दों के रूप में ही नहीं किन्तु भाषा तथा अर्थ में भी बहुत अन्तर है। ‘बेट्ट’ शब्द, प्रेमी जी के लेखानुसार, छोटी पहाड़ी का वाचक कनड़ी भाषा का शब्द है और ‘गेरि’ उस भाषा में गली-मोहल्ले को कहते हैं; जबकि ‘वट्ट’ और ‘वट्टक’ जैसे शब्द प्राकृत भाषा के उपर्युक्त अर्थ के वाचक शब्द हैं और ग्रंथ की भाषा के अनुकूल पड़ते हैं। ग्रंथभर में तथा उसकी टीका में बेट्टकेरि रूप का एक जगह भी प्रयोग नहीं पाया जाता और

1. बाल-गुरु-वुद्ध-सेहे गिलाण-थेरे य खमण-संजुता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता॥३॥

न इस ग्रंथ के कर्तृत्व रूप में अन्यत्र ही उसका प्रयोग देखने में आता है, जिससे उक्त कल्पना को कुछ अवसर मिलता। प्रत्युत इसके, ग्रंथदान की जो प्रशस्ति मुद्रित प्रति में अंकित है उसमें 'श्रीमद्वट्टेकाचार्यकृतसूत्रस्य सद्विधेः' इस वाक्य के द्वारा 'वट्टेरक' नाम का उल्लेख है, जो कि ग्रंथकार-नाम के उक्त तीनों रूपों में से एक रूप है और सार्थक है। इसके सिवाय, भाषा-साहित्य और रचनाशैली की दृष्टि से भी यह ग्रंथ कुन्दकुन्द के ग्रंथों के साथ मेल खाता है, इतना ही नहीं बल्कि कुन्दकुन्द के अनेक ग्रंथों के वाक्य (गाथा तथा गाथांश) इस ग्रंथ में उसी तरह से संप्रयुक्त पाये जाते हैं जिस तरह कि कुन्दकुन्द के अन्य ग्रंथों में परस्पर एक-दूसरे ग्रंथ के वाक्यों का स्वतन्त्र प्रयोग देखने में आता है¹। अतः जब तक किसी स्पष्ट प्रमाण-द्वारा इस ग्रंथ के कर्तृत्वरूप में वट्टेकराचार्य का कोई स्वतन्त्र अथवा पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध न हो जाए तब तक इस ग्रंथ को कुन्दकुन्दकृत मानने और वट्टेकराचार्य को कुन्दकुन्द के लिए प्रयुक्त हुआ प्रवर्तकाचार्य का पद स्वीकार करने में कोई खास बाधा मालूम नहीं होती। यह ग्रन्थ अति प्राचीन है; ईसा की पाँचवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य यतिवृषभ ने, अपनी तिलोयपण्णत्ती में, "मूलाआरे इरिया एवं निउणं णिरूवेति" इस वाक्य के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ के कथन का स्पष्ट उल्लेख किया है। ग्रन्थ की यह प्राचीनता भी उसके कुन्दकुन्दकृत होने में एक सहायक है—बाधक नहीं है।

1. देखो, अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ पृ. २२१ से २२४।

विषयानुक्रमणिका

	गाथा नं.	पृष्ठ नं.		गाथा नं.	पृष्ठ नं.
1. दर्शनपाहुड - एक समग्रचिन्तन		5	25. उभयनय से सम्यग्दर्शन		
2. मुनिश्री प्रणम्यसागरजी विरचित दंसणपाहुड-णंदिनीप्राकृतटीका: एक दृष्टि		9	का व्याख्यान	20	76
3. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य		13	26. दर्शनरत्न सार है-	21	77
4. श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और उनके ग्रन्थ		31	27. शक्ति न हो तो क्या करें	22	80
5. कुन्दकुन्द अष्टक		43	28. कैसे मनुष्य वंदनीय	23	81
6. मंगलाचरण और ग्रन्थ प्रतिज्ञा	1	47	29. सगुण श्रमण की वंदना न करने का दोष	24	82
7. दर्शन का वर्णन	2	48	30. पुनः वही कथन	25	83
8. जिनरूप धारण करने की महिमा	3	49	31. गुणहीन वंदना न करने का निदेश	26,27	85,87
9. सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट	4	52	32. गुणवान कौन	28	88
10. सम्यक्त्व विराधना के दोष	5	54	33. अरिहंत का स्वरूप	29	89
11. सम्यक्त्व की महिमा	6	55	34. मोक्ष कैसे होता है?	30	92
12. पुनः सम्यक्त्व की महिमा	7	57	35. गुणों का सार क्या है?	31	93
13. भ्रष्ट जीव की क्या हानि	8	59	36. चतुर्विध आराधना की दृढ़ता	32	94
14. स्वयं भ्रष्ट के कार्य	9	60	37. दो प्रकार का सम्यक्त्व सर्वपूजित है	33	95
15. दृष्टान्त द्वारा कथन	10	62	38. अक्षयसुख की प्रेरणा	34	96
16. दृष्टान्त द्वारा कथन	11	62	39. स्थवर प्रतिमा का वर्णन	35	96
17. दर्शन भ्रष्ट की अन्य चेष्टा	12	64	40. अरिहंतदेव की उपलब्धि कैसे हो?	36	98
18. विपरीत भाव से प्ररूपणा	13	65	41. दर्शनपाहुड - संज्ञा शब्दकोष		102
19. दर्शन का स्वरूप	14	67	42. आचार्य ज्ञानसागर कृत पद्यानुवाद		117
20. सम्यक्त्व की महिमा	15	69	43. गाथाओं का मूल पाठ		120
21. सम्यग्ज्ञानी का कार्य	16	70	44. प्राकृत नन्दिनी टीका में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची		124
22. जिनवचनों की प्रशंसा	17	71			
23. जिनलिङ्ग के प्रकार	18	74			
24. सम्यग्दर्शन का स्वरूप	19	75			

कुन्दकुन्द अष्टक

रचयिता - मुनि प्रणम्यसागर

(छन्द : स्रग्विणी)

(१)

सत्यपन्थाश्च येन प्रतिष्ठापितः
सत्यवादेन देवी गिरौ निर्जिता।
सत्यसन्देशको यो विनापेक्षया
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—ऊर्जयन्त पर्वत पर श्वेताम्बरों से हुए विवाद में जिन्होंने देवी को जीता और सत्य पन्थ अर्थात् दिगम्बर मत को प्रतिष्ठापित किया। जो बिना किसी की अपेक्षा के सत्य के समीचीन उपदेशक थे। उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(२)

प्राभृतं भूरिशो येन निर्मापितं
सत्यदैगम्बरं वर्त्म यत्राधृतम्।
यद्वचोभिर्मता यस्य सत्यात्मता
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिन्होंने अनेक प्रकार के पाहुडों की रचना की, जिसमें उन्होंने सत्य दैगम्बर मार्ग को रखा है। जिनके वचनों से ही जिनकी सत्यनिष्ठा का परिचय होता है, ऐसे श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(३)

सर्वभव्यार्थिनां मुक्तिमार्गैषिणा-
मात्मदृग्बोधसौख्याधिकाकांक्षिणाम्।
येन वृत्तं प्रदत्तं हि निःश्रेयसं
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—मुक्तिमार्ग की इच्छा करने वाले, आत्मा के दर्शन, ज्ञान और सुख की पूर्णता के आकांक्षी सभी भव्य जीवों को जिन्होंने मुक्ति देने वाला चारित्र प्रदान किया है, उन कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(४)

योऽत्र देवेन्द्र भूपेन्द्र दुर्वादिभिः
पूर्वसूरीश्वरैर्मुक्तिकामार्थिभिः।
भूरि संस्तूयते स्मर्यते वन्द्यते
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जो इस लोक में देवेन्द्र, राजा और दुष्ट वाद करने वालों से तथा मुक्ति की इच्छा करने वाले पूर्वाचार्यों के द्वारा खूब स्तुति को प्राप्त हुए, याद किए गए और वन्दित हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(५)

भव्यजीवाब्जिनीनाञ्च यो भास्करो
यस्य कुन्दावदाता सुदन्तावली।
नासिका तु प्रमाणं द्विनेत्रं नयौ
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—भव्य जीव रूपी कमलों को जो सूर्य के समान खिलाते हैं, जिनकी श्रेष्ठ दन्त पंक्ति कुन्द पुष्प के समान हैं, जिनकी नासिका प्रमाण को और दोनों नेत्र दो नयों की तरह हैं ऐसे श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(६)

यस्य शास्त्रे पदार्थाश्च तत्त्वानि वा
द्रव्यपर्यायभावस्वभावा गुणाः।
स्पष्टमाभान्ति वै दर्पणे बिम्बवत्
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिनके शास्त्र में सभी पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य और पर्यायों के भाव, स्वभाव तथा गुण, दर्पण में बिम्ब के समान निश्चित ही स्पष्ट झलकते हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(७)

यस्य सारत्रयं शोभते भूतले
यस्य वाणी प्रमाणात्मिका मन्यते।
शेमुषी यस्य मोहादिभिः शून्यका
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिनके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय से तीनों सार इस भूतल पर शोभित हैं, जिनकी वाणी प्रमाणात्मक मानी जाती है, जिनकी बुद्धि मोह आदि विकारों से रहित है, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

(८)

शुद्धयोगार्पणाय प्रयत्नः सदा
शुद्धिजीवास्तिकायाय धीसम्पदा।
शुद्धतत्त्वार्थतायी च यः सर्वदा
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा॥

अर्थ—जिनका प्रयास सदा शुद्धोपयोग की मुख्यता के लिए है, जिनकी बुद्धि रूपी धन शुद्ध जीवास्तिकाय के लिए है और जो शुद्ध तत्त्वार्थ का ही विस्तार करते हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की प्रसन्नता के साथ मैं स्तुति करता हूँ।

1. आचार्य कुन्दकुन्ददेव-एक दार्शनिक : दर्शनपाहुड

इस दर्शनपाहुड में आचार्यदेव का दर्शन एक दार्शनिक के रूप में देखने को मिलता है। दृष्टि में जब तक व्यापकता नहीं आती तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। सत्य सर्वत्र नहीं किन्तु सम्यक्-समीचीन दर्शन प्राप्त होने में हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि 'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल दर्शन है। इस दर्शन की अंतरंग परिभाषा जहाँ सम्यग्दर्शन है वहीं उसका बाह्य स्वरूप एक निर्ग्रन्थ यथाजात रूप में दिग्दर्शित होता है। जो लज्जा, गारव, भय से रहित हो दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करके शरीर को चलाने मात्र के लिए भोजन ग्रहण करते हैं। खड़े होकर, एक बार, दिवस में अल्प आहार ग्रहण करना यह उस दर्शन का बाह्य चिह्न है। कहा भी है-

दुविहं पि गंथचायं तीसु व जोएसु संजमो ठादि ।

णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥

इस दर्शन के स्वरूप से रहित होकर जो अपने को दार्शनिक मानने का दंभ करते हैं और अन्यो को अपने पैरों में पड़ाते हैं या जो लज्जा या भय के कारण दर्शन रहित के पैरों में पड़ाते हैं, वे धर्म से दूर रहते हैं, उनको बोधि-केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। इस यथाजात रूप को ही दर्शन कहना और अपने समय के अनेक दार्शनिकों के समक्ष इस अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थता को स्थापित करना, आचार्य कुन्दकुन्ददेव के दार्शनिक व्यक्तित्व का दर्शन कराता है। दार्शनिकता मात्र विचार और चिन्तन की उड़ान से नहीं आती है अपितु उस विचार का आचरण के साथ सामंजस होने में है। वह सामंजस जितने अंशों तक जो आत्मा अंगीकार कर लेता है, वह दार्शनिक है। इस सामंजस का नाम ही शास्त्रीय भाषा में संयम है। यह संयम मात्र इन्द्रियों का दमन नहीं अपितु आत्म-नियंत्रण है। Self Control है। इस Self Control के बिना Self Realization कभी सम्भव नहीं। जिन्होंने पूर्ण रूप से इस नियंत्रण को किया, वे ही जिन हैं और उनका दर्शन ही जिनदर्शन है। इस दर्शन में कोई मतान्धता, पंथवाद, रूढ़िवाद नहीं किन्तु सहज-सत्य-अलौकिकता है। उनका प्रथम स्थान है जो इस बालकवत् निर्विकार जिन रूप को धारण करते हैं। वे ही प्रथम दर्जे के दार्शनिक हैं। दूसरे वे उत्कृष्ट श्रावक हैं, जो इन दार्शनिकों का अनुकरण करते-करते गृह त्याग तो कर चुके हैं, पर वस्त्र त्याग का साहस नहीं जुटा पाये हैं। तीसरे दर्जे के वे लोग हैं जो उत्कृष्ट श्रावक न होकर भी यथायोग्य आचरण करते हैं। इसके अलावा और कोई भी दर्शनीय नहीं, वन्दनीय नहीं। इस दार्शनिकता की प्रतिष्ठापना करके आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने निडर हो स्पष्ट रूप से कहा है कि 'असंजदं ण वन्दे' असंयत वन्दनीय नहीं है।

दंसणपाहुडं (णंदिणीटीगासहिदं)

उत्थानिका—अहं हुण्डावसप्पिणिसमयसंजादाणेयमदमज्झे सव्वण्हुपणीद-जिणमदं परूवेदुकामो आइरियकुंदकुंददेवो दंसणचारित्त-सुत्त-बोह-भाव-मोक्ख-लिंग-सीलणामहेयट्ठ-पाहुडदारेसु ताव पढमं दंसणपाहुडं समाह-

तत्थ मंगलायरणरूवा णमुक्कारगाहा एसा परूविज्जदे-

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स ।

दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥1॥

टीका—जिणवर वसहस्स वड्डमाणस्स वीरादिपंचणामधारगस्स अंतिमतिथ्यरस्स णमुक्कारं काऊण णमणं किच्चा जहाकमं कमं अणलंघियूण पुव्वाइरियपरंपरापत्तणाणुसारेण दंसणसुत्तादि-पाहुडकमेण वा समासेण संखेवेण अणदिवित्थरेण दंसणमग्गं वोच्छामि त्ति संखेवत्थो । विसेसो पुण वड्डमाणसद्वस्स जिणवरवसहो विसेसणत्तेण विण्णेओ । एत्थ जिणा जहजादरूवधरा साहवो ।

उत्थानिका— अथ हुण्डावसर्पिणी काल में उत्पन्न हुए अनेक मतों के मध्य में सर्वज्ञप्रणीत जिनमत को प्ररूपित करने की इच्छा करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव दर्शन, चारित्र, सूत्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील नाम से अष्टपाहुड द्वारों में सर्वप्रथम दर्शनपाहुड को कहते हैं -

उस दर्शनपाहुड में मंगलाचरणरूप यह नमस्कार गाथा कही जाती है-

अन्वयार्थ— (जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स) जिनवरों में अर्थात् गौतमादि गणधरों में श्रेष्ठ श्री वर्धमान स्वामी को (णमुक्कारं) नमस्कार (काऊण) करके (जहाकमं) यथाक्रम (समासेण) संक्षेप से (दंसणमग्गं) सम्यग्दर्शन के मार्ग को (वोच्छामि) कहूँगा ।

टीकार्थ—जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स वीर आदि पाँच नामों को धारण करने वाले अंतिम तीर्थंकर को णमुक्कारं काऊण नमस्कार करके जहाकमं क्रम का उल्लंघन नहीं करके पूर्वाचार्यों की परम्परा से प्राप्त ज्ञान के अनुसार दर्शन, सूत्रादिपाहुड के अथवा दर्शन, सूत्र आदि पाहुड के क्रम से समासेण संक्षेप से अर्थात् अति विस्तार नहीं करते हुए दंसणमग्गं वोच्छामि दर्शन मार्ग का कथन करूँगा यह संक्षेप अर्थ है । विशेष अर्थ इस प्रकार से है- जिनवरवृषभ यह पद वर्धमान शब्द के विशेषण रूप से जानना चाहिए । यहाँ यथाजातरूप को धारण करने वाले साधुजिन हैं । उन जिनों

**श्री वर्धमान वृषभादि जिनेश्वरों को, मैं वंदना कर सुजोड़ निजी करों को ।
संक्षेप से सहज दर्शन-मार्ग खोलूँ, खोलूँ जिनागम रहस्य निजात्म धोलूँ ॥1॥**

तेसु वरा सेट्टा गणहरदेवा । तेसु वसहो तित्थयरदेवो । एत्थ अविरदसम्मादिट्ठी जिणसङ्गेण ण गहेयव्वो गोणपसंगादो । अहवा जिणवरवसहो त्ति पदेण जिणवरेसु वसहो पढमत्तित्थयरदेवो वड्ढमाणो अंतिमत्तित्थयरदेवो त्ति अत्थो । अहवा पढमंतिमत्तित्थयरणामगहणेण चउवीस तित्थयराणं गहणं कदं ति मुणेदव्वं । तस्स मग्गो पहो तं । दंसणं **जिणमदं जिणरूवं** वा । तेण परमगुरुपरम्परापवाहो वि समुद्धिट्ठो । अहवा जिणा साहुपरमेट्ठिणो । तेसु वरा उवज्झायाइरियपरमेट्ठिणो । तेसु वि वसहो गणहरदेवो त्ति अवरगुरुपरंपरापवाहो समुद्धिट्ठो । एदेण पंचपरमपरमेट्ठीणं णमुक्कारो कदो त्ति णायव्वो ॥1॥

उत्थानिका—किमट्ठं ताव दंसणस्स वण्णणं कीरदे त्ति वुच्चदे—

दंसणमूलो धम्मो उवड्ढो जिणवरेहिं सिस्साणं ।

तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥2॥

टीका—जिणवरेहिं परावरगुरुवरेहिं सिस्साणं धम्मपहसिक्खणसीलाणं धम्मो दंसणमूलो

में वर अर्थात् श्रेष्ठ गणधरदेव हैं उनमें भी श्रेष्ठ तीर्थकरदेव हैं । यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टि जिनशब्द से नहीं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उनका प्रसंग गौण है अथवा जिनवर वृषभ इस पद के द्वारा जिनवरों में वृषभ प्रथम तीर्थकरदेव और अंतिम तीर्थकरदेव वर्धमान को ग्रहण करना चाहिए अथवा प्रथम और अंतिम तीर्थकर के नाम ग्रहण करने से 24 तीर्थकरों का भी ग्रहण किया गया है यह भी जानना चाहिए, इसके द्वारा परमगुरु की परम्परा का प्रभाव भी कहा गया है अथवा साधु परमेष्ठी जिन हैं उनमें श्रेष्ठ आचार्य, उपाध्यायपरमेष्ठी उनमें भी श्रेष्ठ गणधरदेव हैं इस प्रकार अपर गुरु परम्परा का प्रभाव कहा गया है । इस तरह से पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है यह जानना चाहिए । दर्शन का अर्थ जिनमत अथवा जिनरूप है । उसका मार्ग अर्थात् पथ उसको कहूँगा, यह तात्पर्य है ॥1॥

उत्थानिका—सर्वप्रथम दर्शन का वर्णन किसलिए किया जा रहा है, इस प्रकार पूछने पर उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जिणवरेहिं) जिनेन्द्र भगवान् ने (सिस्साणं) शिष्यों के लिये (दंसणमूलो धम्मो) दर्शनमूलक धर्म का (उवड्ढो) उपदेशित दिया है (तं) उसे (सकण्णे) अपने कानों से (सोऊण) सुनकर (दंसणहीणो) दर्शन से रहित [मनुष्य] की (वंदिव्वो ण) वंदना नहीं करना चाहिए ।

टीकार्थ— जिणवरेहिं अर्थात् पर अपर गुरुवरों के द्वारा सिस्साणं धर्म पथ की शिक्षा लेने

जो धर्म मूल वह दर्शन नाम पाया, ऐसा सुशिष्यजन को जिन ने बताया,
सद्धर्म का श्रवण ध्यान लगा सुनो रे! वे वन्दनीय नहिं दर्शन-हीन कोरे ॥2॥

होदि त्ति उवइट्टो । मूलं कारणं बीजं वा । जेण विणा कज्जस्सुववत्ती ण हवे तं मूलं त्ति वुच्चदे । धम्मस्स मूलं किमिदि पुच्छे आइरियदेवो आह—दंसणं जिणरूवं । धम्मो अप्पणो सहावो । दंसणं तद्धम्मस्स बहिसरूवेण अवलोयणं । तं खलु जिणिंदरूवेण विणा ण दिस्सदि । तेण णिग्गट्ठं जिणरूवं एव दंसणं त्ति सिद्धं ।

तं दंसणमूलं धम्मं सकण्णे सगकण्णइये सोऊण दंसणहीणो ण वंदिब्बो त्ति आइरिय-देवस्साहिप्पाओ । जिणमदम्मि जिणरूवसंजुदो साहू खलु वंदिब्बो ण पडादिजुदसाहू त्ति भावत्थो ॥2॥

उत्थानिका—अह जिणरूवधारगस्स दंसणसंजुत्तस्स महिमा वण्णदे—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।

सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥3॥

टीका—जे साहवो दंसणभट्टा जिणरूवप्पमुहदंसणेण भट्टा ते भट्टा विणट्टा एव होंति

का जिनका स्वभाव है, वह शिष्य हैं। उन शिष्यों को धम्मो दंसणमूलो धर्म दर्शन मूलक है। उवइट्टो यह कहा है। मूल कारण या बीज एकार्थक हैं। जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो, वह मूल कहा जाता है। धर्म का मूल क्या है ? इस प्रकार पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं—दर्शन जिनरूप है। धर्म आत्मा का स्वभाव है। उस धर्म का बाह्य स्वरूप से अवलोकन दर्शन है। वह दर्शन जिनेन्द्र रूप के बिना नहीं देखा जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ जिनरूप ही दर्शन है, यह सिद्ध हुआ। तं उस दर्शन मूलक धर्म को सकण्णे अपने दोनों कानों से सोऊण दंसणहिणो ण वंदिब्बो सुनकर दर्शनहीन की वंदना नहीं करना चाहिए, यह आचार्यदेव का अभिप्राय है। जिनमत में जिनरूप से संयुक्त साधु ही वंदना के योग्य है, वस्त्रादि से युक्त साधु नहीं, यह भावार्थ है ॥2॥

उत्थानिका—अब दर्शन से संयुक्त जिनरूप को धारण करने वालों की महिमा का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(दंसणभट्टा) दर्शन से भ्रष्ट है (भट्टा) [वह] भ्रष्ट है (दंसणभट्टस्स) दर्शन से भ्रष्ट का (णिव्वाणं) निर्वाण (णत्थि) नहीं है (चरियभट्टा) चारित्र से भ्रष्ट (सिज्झंति) सिद्ध होता है [परन्तु] (दंसणभट्टा) दर्शन से भ्रष्ट (ण सिज्झंति) सिद्ध नहीं होता।

टीकार्थ—जो साधु दंसणभट्टा जिनरूप की प्रमुखता वाले दर्शन से भ्रष्ट है, भट्टा वे विनष्ट ही हैं क्योंकि अनेक योनियों से भरे हुए चतुर्गति में उनका परिभ्रमण होता है। दंसणभट्टस्स अर्थात्

वे भ्रष्ट हैं पुरुष दर्शन-भ्रष्ट जो हैं, निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं।

चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित पा सिझेंगे, पै भ्रष्ट दर्शनतया न कभी सिझेंगे ॥3॥

अण्येयजोणिसंकुलचदुग्गदि-परिब्भणादो । **दंसणभट्टस्स** जिणलिंगं मोत्तूण अण्णभेसधरस्स **णिव्वाणं णत्थि** अप्पसहावस्सपत्ती णत्थि । जे केइ अट्ठावीसमूलगुणपालणरूवचरियेण कदाइं किंचि कालपज्जंतं पडंति ते **चरियभट्टा** वि **सिज्झंति** पायच्छित्तादितवविहाणेण पुणो वि छेदोवट्ठावणचरियबलेण सहावे समवट्ठिदादो । एत्थ चरियासद्दो सयणासणगमणागमणदि-किरिया-विसए णादव्वो । तेण चरियभट्टा त्ति पदेण एदासु किरियासु पमादेण भट्टाणं गहणं कादव्वं, ण च एयंतेण चरित्तेण भट्टा एत्थ गहिदा । पवयणसारे चरियसद्वस्स गहणं एवमेव दिट्ठं । तं जहा-

अपयत्ता वा चरिया सयणसणठाणचंकमादीसु ।

समणस्स सव्वकालं हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥ 229

तहेव-जदि दंसणे हि सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता ।

घोरं चरदु व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा श्रणिदा ॥ 250

एत्थ वि चरियसद्दो उववसाक्षादितव समिदि-परिपालणकाउ सग्गादिविसए णादव्वो ।

जिनलिंग को छोड़ करके अन्य भेष को धारण करने वालों का **णिव्वाणं णत्थि** निर्वाण नहीं है अर्थात् आत्मस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती है, जो कोई 28 मूलगुण के पालन रूप चारित्र से कदाचित् कुछ काल तक गिर जाते हैं, वे **चरियभट्टा** वि **सिज्झंति** वे चारित्र भ्रष्ट भी सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि प्रायश्चित्त आदि तप के विधान से वह पुनः छेदोपस्थापना चारित्र के बल से स्वभाव में स्थित हो जाते हैं । यहाँ चर्या शब्द शयन, आसन, गमन-आगमन आदि क्रिया के विषय में जानना चाहिए । इसलिए 'चर्या से भ्रष्ट' इस पद के द्वारा इन्हीं क्रियाओं में प्रमाद से भ्रष्ट का ग्रहण करना चाहिए । 'प्रवचनसार' ग्रन्थ में चर्या शब्द का ग्रहण इसी अर्थ में देखा गया है ।

वह इस प्रकार है-

“शयनासन, चलने-फिरने की क्रियाओं में श्रमण की जो प्रयत्न के बिना चर्या होती है वह सर्वकाल निरन्तर हिंसा मानी गई है ।” गाथा 229

उसी प्रकार से -

“यदि स्त्री दर्शन से शुद्ध है, सूत्राध्ययन से भी सहित है, घोर चर्या से तपश्चरण करे तो भी स्त्री की निर्जरा नहीं होती है ।” गाथा 250

यहाँ पर भी चारित्र शब्द उपवास आदि तप, समिति के पालन और कार्यत्सर्ग आदि के विषय में जानना चाहिए ।

उसी प्रकार से -

“बाल हो, वृद्ध हो, श्रम से पीडित हो या ग्लान हो, स्वयोग्य ऐसी चर्या करो जिससे कि मूल का छेद न हो” ॥ गाथा 263

यहाँ चर्या शब्द से विहार, आहार, औषध ग्रहण आदि के विषय में वार्ता की गई है ।

तहेव-बालो वा बुडढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।

चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदं जहा ण हवदि ।। 263

एत्थ चरियसङ्गेण विहाराहारोसहगहणादिविसये वत्ता कदा ।

तहेव-अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।

विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता हवे चरिया ।। 285

एत्थ भत्तिवच्छलदादिसुहोवओगायरणं चरियसद्देण विहिदं ।

तहेव-दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।

चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो वा ।। 287

एत्थ सिस्सग्गहणोवदेसादियं चरियसङ्गेण णिदिट्ठं ।।

तहेव-जोण्हाणं णिरवेक्खा सागारणगारचरियजुत्ताणं ।

अणुकंपा उवयारं कुव्वदु लेवो जदि वियप्पं ।। 281

एत्थ अणुकंपासहिदवेज्जावच्चादि चरियसङ्गेण वुत्तं

तेण चरियभट्ठा त्ति पदेण चरित्तस्स अहावो हि णिड्ढिट्ठो एयंतेण ण मंतव्वं किंतु सुहोवओग-
संबंधिवुत्तचरियामज्झे काए वि चरियाए अहावे वि चरिय-भट्ठो होदि त्ति णादव्वं ।

उसी प्रकार से -

“अरहंत आदि में भक्ति और प्रवचन से युक्त जनों में वत्सलता यदि श्रामण्य में रहती है तो वह शुभचर्या कही गई है।” गाथा 285

यहाँ भक्ति, वात्सल्य आदि शुभोपयोग आचरण को चर्या शब्द से कहा गया है।

उसी प्रकार से -

“दर्शन-ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण करना अथवा जिनेन्द्र पूजा का उपदेश यह भी सरागों की चर्या है।” गाथा 287

यहाँ पर शिष्य का ग्रहण और उपदेश आदि चर्या शब्द से कहा गया है।

उसी प्रकार - “सागार और अनागार चर्या से युक्त जैनों की निरपेक्षता से अनुकंपा से उपचार करें यद्यपि उसमें अल्प कर्मबंध होता है।” गाथा 281

यहाँ पर अनुकंपा सहिद वैयावृत्य आदि चर्या शब्द से कहा है।

इसलिए ‘चरियभट्ठा’ इस पद से चारित्र का अभाव ही कहा गया है, ऐसा एकान्त रूप से नहीं मानना चाहिए किन्तु शुभोपयोग सम्बन्धी जो चर्याएँ कहीं गई हैं उनमें से किसी चर्या का अभाव होने पर भी चर्या भ्रष्ट है, ऐसा जानना चाहिए। किन्तु **दंसणभट्ठा ण सिज्झंति** किन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्ध नहीं होते हैं क्योंकि सदा काल वह निर्ग्रन्थ लक्षण वाले मोक्षमार्ग से बाहर रहते

ण दंसणभट्टा सिज्झंति सयाकालं णिगंगथलक्खणमोक्खमग्गस्स बहिरत्तादो । अहवा दंसणभट्टस्स णिव्वाणं दूरयरं होदि मारीचिव्व । जे दियंवरवीयरायजिणमदम्मि सद्धाणं मोत्तूण अण्णमदं दिढभावेण सद्धंति तेसिं णिव्वाणं णियडभविस्से ण होदि त्ति भावत्थो ॥३॥

उत्थानिका—अह यदि बाहिरलिंगेण खलु णिव्वाणं हवे तो सव्वेसिं जिणलिंगधारीणं किण्ण होज्ज दव्वलिंगिस्स णिव्वाणगमणे विरोहादो त्ति पुच्छाए णिरायरणट्टमाह—

सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।

आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

टीका—सम्मत्तरयणभट्टा जे बाहिरे जिणलिंगधरा होदूण वि अंतरंगे सम्मत्तरयणेण मोक्खसुह-संपत्तिकारणभूद-सद्धहणपरिणदीए भट्टा होति ते सम्मत्तरयणभट्टा वुच्चंति । ते खलु आयारादि-यंगसिद्धंताज्झप्पणायवायरणलंकारछंदादिरूवाइं **बहुविहाइं सत्थाइं जाणंता** वि **आराहणाविरहिया**

हैं अथवा दर्शन से भ्रष्ट का निर्वाण दूर तक होता है । जैसे कि मरीचि का । इसलिए जो दिगम्बर वीतराग जिनमत में श्रद्धा को छोड़ करके अन्यमत को दृढ़ भाव से श्रद्धान करते हैं, उनके लिए निर्वाण निकट भविष्य में नहीं होता है, यह इसका भावार्थ है ॥३॥

उत्थानिका— अब यदि बाहर लिंग से ही वास्तव में निर्वाण होवे तो सभी जिन लिंगधारियों का निर्वाण क्यों नहीं हो जाता क्योंकि द्रव्यलिंग का निर्वाण गमन में विरोध है, इस प्रकार से पृच्छना होने पर उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं—

अन्वयार्थ— (सम्मत्तरयणभट्टा) सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट [जीव] (बहुविहाइं) बहुत प्रकार के (सत्थाइं) शास्त्रों को (जाणंता) जानता हुआ [भी] (आराहणाविरहिया) आराधना से रहित होता हुआ (तत्थेव तत्थेव) वहीं-वहीं (भमंति) भ्रमण करता है ।

टीकार्थ— जो बाहर में जिनलिंग को धारण करके भी अंतरंग में सम्मत्तरयणभट्टा माने मोक्ष सुख की प्राप्ति के कारणभूत श्रद्धान की परिणति सम्यक्त्वरूपी रत्न है उससे भ्रष्ट होते हैं तो वे सम्यक्त्वरूपी रत्न से भ्रष्ट कहे जाते हैं । वे आचारादि अंग, सिद्धान्त, अध्यात्म, न्याय, व्याकरण, अलंकार, छंद आदि रूप **बहुविहाइं सत्थाइं जाणंता** बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी **आराहणाविरहिया** आराधना से रहित होते हैं । आराधना किसका नाम है, इस प्रकार पूछने पर कहते हैं—उद्योतन, उद्यमन, निर्वहण, साधन और निस्तरण । इस तरह दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना कही गई है यह गाथा का अर्थ हुआ । इस गाथा में दर्शन शब्द सम्यग्दर्शन के अर्थ में

जाने अनेक विध आगम को तथापि, आराधना न वरती उनको कदापि ।

सम्यक्त्व-रत्न तज के पर में रमे हैं, वे बार-बार भवकानन में भ्रमे हैं ॥४॥

होति । किं णाम आराहणेत्ति वुच्चदे-

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।

दंसणणाणचरित्त-तवाणमाराहणा भणिया ॥

(भगवती आराधना)

इदि गाहाए दंसणसद्धो सम्मदंसणस्सत्थे णादव्वो दंसणस्साराहणाए विणा णाणादिआराहणाए अहावादो । तदो सम्मत्तस्स आराहणा सव्वासिं पमुहा । तं जहा-संकादिदोसेण विणा अत्तकहिदतच्चेसु सम्मं रुई उज्जोवणं होदि । पुणो वि अहियाहियविसोही कधं हवे त्ति चिंतिदूण सम्मत्तभावे परिणमण-मुज्जवणं णाम । आराहणाए विराहणकारणविसेसाणमुवट्ठिदे वि मणम्मि अणायदणसेवणं पडि अणाकुलदा णिव्वहणं णाम । जिणिंदपूयाजिणुत्तवयणसमम्भासो काले णंदीसरादिजिणबिंबाणं भत्ती इच्चादिकारण-मेलावणं साहणं णाम ।

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।

तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावत् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥

इच्चादिभावणावसेण सम्मत्तस्स परलोए वि सहगमणं णिच्छरणं होदि । एवंविहाराहणाविरहिया जीवा तत्थेव तत्थेव चउरसीदिलक्खजोणीसु भमंति ॥4॥

उत्थानिका—अह सम्मत्तस्स विराहणाए के दोसा अण्णे वि त्ति णिरूवेत्ति-

जानना चाहिए क्योंकि दर्शन की आराधना के बिना ज्ञान आदि की आराधना का अभाव है, इसलिए सम्यक्त्व की आराधना सबसे प्रमुख है । वह इस प्रकार से है- शंका आदि दोषों के बिना आप्त के द्वारा कथित तत्त्वों में अत्यन्त रुचि होना **उद्योतन** है । पुनः अधिक-अधिक विशुद्धि किस प्रकार होवे इस प्रकार से चिंतन करके सम्यक्त्व के भाव में परिणमन करना **उद्यमन** है । आराधना की विराधना के कारण विशेषों की उपस्थिति होने पर भी मन में अनायतन की सेवा के प्रति आकुलता नहीं होना **निर्वहण** है । जिनेन्द्र भगवान् की पूजा और जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए वचनों का अभ्यास, समय पर नंदीश्वर आदि जिनबिम्बों की भक्ति इत्यादि कारणों का मिलाना ये **साधन** है । “आपके चरण मेरे हृदय में और मेरा हृदय आपके दोनों चरण कमल में लीन रहे जब तक कि हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! भगवान् मुझे निर्वाण की प्राप्ति न हो” इत्यादि भावना के द्वारा सम्यक्त्व को परलोक में भी साथ ले जाना **निस्तरण** कहलाता है । इस प्रकार की आराधना से रहित जीव **तत्थेव तत्थेव** उन्हीं-उन्हीं 84 लाख योनियों में **भमंति** भ्रमण करते हैं ॥4॥

उत्थानिका— अब सम्यक्त्व की विराधना के अन्य भी कौन से दोष हैं, इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं-

अन्वयार्थ— (सम्मत्तविरहिया णं) सम्यग्दर्शन से रहित [मनुष्य] (सुट्ठु वि) अच्छी

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उगं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥5॥

टीका—णमिदि वक्कलंकारे । सम्मत्तविरहिया मिच्छादिट्ठिणो जीवा । सुट्ठु वि दिट्ठरूवेण वि । उगं तवं पक्खमासादिकालपज्जंतं । चरंता करेन्ता । णमिदि पुणो वक्कलंकारे । वाससहस्सकोडीहिं अइदिग्घकालेणअवि । बोहिलाहं रयणत्तयपत्तिं । ण लहंति ण पावेंति ।

तहेव मिच्छादिट्ठी जीवो मूलगुणादिचरित्तं दिट्ठतरेण पालेज्ज ण वा, समाहिमरणं सावधानेण करेज्ज ण वा, चागेण चउव्विहारस्स मरेज्ज ण वा किंतु सम्मत्तविरहियत्तादो कुमरणफलं हि लभेदि ।

तरह (उगं तवं चरंता णं) कठिन तपश्चरण करते हुये (वाससहस्सकोडीहिं) हजार करोड़ों वर्षों में (अवि) भी [वह] (बोहिलाहं) रत्नत्रय रूप बोधिलाभ को (ण लहंति) प्राप्त नहीं कर पाते हैं ।

टीकार्थ—णं यह शब्द वाक्य अलंकार में प्रयुक्त है, सम्मत्तविरहिया अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव सुट्ठु वि दृढ़ रूप से भी उगं तवं पक्ष मास आदि काल तक चरंता करते हुए णं यह पुनः वाक्य अलंकार में प्रयुक्त शब्द है वाससहस्सकोडीहिं अति दीर्घकाल के द्वारा भी बोहिलाहं रत्नत्रय की प्राप्ति ण लहंति नहीं प्राप्त करते हैं । इसी प्रकार से मिथ्यादृष्टि जीव मूलगुण आदि चरित्र को दृढ़तर रूप से पाले अथवा न पाले, समाधिमरण से सावधान रूप से मरे अथवा न मरे, चारों प्रकार के आहार के त्याग से मरे अथवा न मरे किन्तु सम्यक्त्व की विराधना होने से कुमरण फल को प्राप्त करता है ।

कहा भी है—“जो मिथ्यादृष्टि जीव चाहे दृढ़चारित्र वाला हो अथवा दृढ़चारित्र से रहित हो वह मरण करके भी किसी भी प्रकार की आराधना को प्राप्त नहीं होता है ।”

प्रश्न—किस कारण से यह जीव जिन मार्ग में अच्छे ढंग से चलता हुआ भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है?

उत्तर—अंतरंग में विपरीत आशय का संस्कार होने से अथवा भोगों की आकांक्षा से तपादि करने से यह जीव जिनमार्ग में चलते हुए भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होता है । कहा भी है—“जो धर्म का श्रद्धान करता है, उसकी प्रतीति करता है, उसकी रुचि करता है और पुनः उसका स्पर्श भी

वे कोटि वर्ष तक भी तपते रहेंगे, घोराति-घोर तप भी करते रहेंगे ।
ना बोधिलाभ उनको मिलता तथापि, सम्यक्त्व से रहित हैं मति मंद-पापी ॥5॥

वुत्तं च-

जो पुण मिच्छादिट्ठी दढचारित्तो अदढचारित्तो वा।
कालं करेज्ज ण हु सो कस्स वि आराहणं होदि ॥
(भगवती आराधना 57)

किं कारणेण वुण जीवो जिणमग्गे सुट्ठ चरंतो वि सम्मत्तं ण लहेदि त्ति चे, अंतरंगे
विवरीयासयसंकारादो भोगकंखाए तवादिकरणादो वा। वुत्तं च-

सद्धहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि य।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥
(समयसार 293)

उत्थानिका—अह सम्मत्तस्स माहप्पं वण्णेदि-

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्डमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होन्ति अइरेण ॥6 ॥

टीका—जे सव्वे भव्वजीवा। सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्डमाण—अज्ज पायदलक्खण-
बलेण विहत्तिलोवो। सम्मत्तं पमुहं सव्वेसु णाणादिसु तेण पढमं वुत्तं। तत्थ सम्मत्तं जीवादि-पदत्थाणं

करता है किन्तु वह धर्म को भोगों के निमित्त करता है, इसलिए उसका वह धर्म कर्म के क्षय का
निमित्त नहीं होता है ॥5 ॥”

उत्थानिका— अब सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन करते हैं-

अन्वयार्थ— (जे सव्वे) जो सभी भव्य जीव (सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्डमाण)
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् बल और सम्यक् वीर्य से वृद्धि को प्राप्त होते हैं (कलिकलुस-
पावरहिया) कलिकाल सम्बन्धी मलिन पापों से रहित हैं (अइरेण) [वे] शीघ्रता से (वरणाणी)
श्रेष्ठज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी (होन्ति) होते हैं।

टीकार्थ— “जे सव्वे”- जो समस्त भव्य जीव हैं “सम्मत्तणाणदंसणबलवीरिय-
वड्डमाण”- यहाँ पर प्राकृत लक्षण के बल से विभक्ति का लोप हुआ है। ज्ञान आदि सभी में
सम्यक्त्व प्रमुख है इसलिए सम्यक्त्व का कथन अथवा प्रारंभ सर्वप्रथम किया है। वह सम्यक्त्व
जीवादी पदार्थों का श्रद्धान है। स्वयं इसी पाहुड में आचार्यदेव आगे सम्यक्त्व की प्ररूपणा करेंगे
जैसे कि “जीवादी सद्धहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं” (दर्शन प्राभृत 20) अर्थात् जिनेन्द्र भगवान्

सम्यक्त्व ज्ञान बल दर्शन वीर्य से हैं, जो वर्धमान, गतमान सदा लसे हैं।

कालुष्य-पूर्ण-कलिका मल पाप त्यागी, सर्वज्ञ शीघ्र बनते, मुनि-वीतरागी ॥6 ॥

सङ्ग्रहणं। सयं अस्सि पाहुडे आइरियदेवो अग्ग परूविज्जिहिदि जहा-जीवादी सङ्ग्रहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं (दंसणपाहुड 20) एदेण दंसणायारो सूचिदो। तहेव णाणं जिणवयणाणुसारेण पवट्टणं। तस्स कहणं जिणवयणमोसहमिणं ति गाहाए अग्ग वक्खाणादो। एदेण णाणायारो कहिदो। तहेव दंसणं जिणरूवं। जहा य अग्ग भणिहिदि-

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।

णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होइ ॥

एदेण चरित्तायारो कहिदो। तहेव बलं तवकरणट्ठं सरीरस्स संहणणं। एदेण तवायारो कहिदो। वीरियं च अप्पणो वीरियंतराइयकम्मखओवसमजणिदसत्ती। तस्स परूवणं वि अग्गे-**जं सक्कइ तं कीरइ** इच्चादिगाहाए करिहिदि। एदेण वीरियायारो भणिदो। णाणादिगुणा सम्मत्तेण सह वड्डमाणा भवन्ति। ते खलु **कलिकलुसपावरहिया** कलिकालजणिदसव्वमिच्छापहवासणाए मुक्का **अइरेण वरणाणी** केवलणाणिणो **होति**। जहा भङ्गणकुमारादीओ राजपुत्ता अणादिमिच्छादिट्ठीओ तसपज्जायं

ने जीवादि का श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहा है। इस प्रकार यहाँ सम्यक्त्व शब्द के द्वारा दर्शनाचार की सूचना दी गई है। उसी प्रकार जिन वचनों के अनुसार प्रवर्तन करना ज्ञान है उसका कथन भी **जिणवयणमोसहमिणं** इस गाथा के द्वारा आगे कहा जायेगा, इस ज्ञान शब्द के द्वारा ज्ञानाचार का कथन किया गया है, इसी प्रकार दर्शन जिनरूप है जैसा कि आगे कहेंगे-

अर्थात् दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करके तीनों योगों में जो संयम से स्थित होता है और जो ज्ञान में और करणों में शुद्ध है तथा खड़े होकर के जो भोजन करता है वह दर्शन है। इस प्रकार इस दर्शन शब्द के द्वारा चारित्राचार कहा गया है। इसी तरह तप करने के लिए शरीर का संहनन बल कहलाता है, इस बल शब्द के द्वारा तपाचार का कथन किया गया है। “वीरियं च”- अपने आत्मा की वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति वीर्य कहलाती है, उसकी प्ररूपणा भी आगे करेंगे। “जं सक्कइ तं कीरइ”- अर्थात् जिनकी जो सामर्थ्य है उसके अनुसार तप करना चाहिए, इत्यादि गाथा के द्वारा वीर्य की प्ररूपणा की जायेगी, इस वीर्य शक्ति के द्वारा वीर्याचार का कथन किया गया है। ये ज्ञानादि गुण सम्यक्त्व के साथ ही वर्धमान अर्थात् वृद्धिगंत होते हैं। वे जीव ही वास्तव में “**कलिकलुसपावरहिया**” कलिकाल से उत्पन्न हुए सभी मिथ्यापथ की वासना से मुक्त हुए “**अइरेण वरणाणी**” शीघ्र ही केवलज्ञानी **होति** हो जाते हैं। जैसे कि भङ्गणकुमार आदि राजपुत्र अनादि मिथ्यादृष्टि थे। वे त्रस पर्याय को प्राप्त करके वृषभ देव जिननाथ के मुख कमल से निर्गत धर्म का अर्थ श्रवण करके संयम को प्राप्त करके अल्पकाल में ही मुक्तिकांता के बल्लभ हुए हैं।

कहा भी है-अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी चूँकि क्षणभर में सिद्ध हुए देखे जाते हैं इसलिए चारित्र की आराधना ही आराधना का फल है ॥6॥

पाविदूण उसहजिणणाहवदणकमलणिग्गद-धम्मसवणं किच्चा संजमं लहिदूण अप्पकालेणेव मुत्तिकंताए वल्लहा जादा ।

वुत्तं च-

दिट्ठा अणादि मिच्छादिट्ठि जम्हा खणेण सिद्धा य ।

आराहणा चरित्तस्स तेण आराहणासारो ॥

(भगवती आराधना 17)

उत्थानिका—पुणो वि सम्मत्तस्स महिमावण्णणमेत्थ-

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।

कम्मं बालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥7॥

टीका—जस्स सम्मादिट्ठिजीवस्स हियए अट्टदलकमलजुददव्वमणम्मि णिच्चं सयाकालं सम्मत्तसलिल पवहो सम्मत्तं एव सलिलं तस्स पवहो णई सोदो वा सम्मत्तम्मि उवओगस्स परिणदी पवट्टए पवट्टणं होदि तस्स बंधुच्चिय बंधस्सुच्चसमूहो बालुयवरणं बालुयसमाणं कम्मं आवरणं कम्मं तस्स णासए खवेदि ।

उत्थानिका—पुनः सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन यहाँ पर किया जाता है—

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके (हियए) हृदय में (णिच्चं) नित्य (सम्मत्तसलिलपवहो) सम्यक्त्व रूपी जल प्रवाह (पवट्टए) प्रवर्तित है (तस्स) उसके (बंधुच्चिय) बंधे हुए (कम्मं बालुयवरणं) कर्म रूपी बालु का आवरण (णासए) नष्ट हो जाता है ।

टीकार्थ—जस्स जिस सम्यग्दृष्टि जीव के लिए हियए अष्टदल कमल से युक्त द्रव्य मनरूप हृदय में णिच्चं सम्मत्तसलिलपवहो सदा काल सम्यक्त्व ही जल है उसका प्रवाह अर्थात् सम्यक्त्व में उपयोग की परिणति रूप नदी का स्रोत पवट्टए प्रवर्तित होता है । तस्स बंधुच्चिय उस जीव के बंध का उत्कृष्ट समूह बालुयवरणं कम्मं कर्मरूपी रज धूल का णासए नाश हो जाता है अर्थात् क्षय हो जाता है ।

जो जीव सम्यक्त्व की निरंतर आराधना करता है, उसके संसार वृद्धि के कारणभूत कर्मों का बंध नहीं होता है, यदि वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है तो उसके कर्म बंध की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी मात्र होती है । वह जीव भी हाथी के स्नान के समान कर्म की निर्जरा करता है, फिर भी वह जीव उस भव में अथवा अन्य भव में नियम से संयमासंयम से या संयम से सहित हो जाता है क्योंकि

सम्यक्त्व का झर झरा झरना झरेगा, वो साधु का हृदय शीतल तो करेगा ।

तो नव्य कर्म मन आ न कभी लगेगा, औ पूर्व-लिप्त मन भी धुलता धुलेगा ॥7॥

जो जीवो सम्मत्तं णिरंतरं आराहेदि तस्स संसारवड्डिकारणभूदकम्माणं बंधो ण होदि। जदि सो अविरदसम्माइट्ठी अत्थि तस्स कम्मट्ठिदिबंधोअंतोकोडाकोडीमेत्तो होदि। सो हत्थिण्हाणं व कम्मं णिज्जरइ तो वि। सो जीवो तम्मि भवे अण्णम्मि भवे वा णियमेण संयमासंयमेण संयमेण वा सहिदो होदि जिणमदे भत्तिजणिदसम्मत्तसलिलपवाहफलत्तादो।

जो वीयरगसम्मादिट्ठी तस्स खलु अहिणवकम्माणं बंधो बालुयवरणं व्व होदि वीयरग णिव्वियप्पसगसंवेदणकाले उवओगे रागादिणा सहेक्कपरिणदियभावादो। समिदिपरिपालणकाले वि सो कम्मबंधेण ण लिप्पदि पमादपच्चयस्साहावादो। अण्णेसिं तिकसायचउक्कसहिदाणं णाणमेत्त-संवेदणाभावादो तक्कसायाणुसारिबंधो णियमेण जायदि। वुत्तं च-

रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं।

बंधं नैव कुतोप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्॥

(समयसार कलश 165)

अह ‘बंधुच्चिय’ इदि पदस्स ‘बद्धमवि’ त्ति अत्थो वि जायदि। तेण आयादि वीयरगसम्मादिट्ठिस्स णाणिस्स पुव्वबद्धं कम्मं बालुयवरणं व्व चिट्ठिदि। वुत्तं च-

जिनमत में भक्ति जनित सम्यक्त्वरूपी जल के प्रभाव का फल उसे प्राप्त होता है। तथा जो जीव वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है उसके नवीन कर्मों का बंध बालु रज के समान होता है क्योंकि वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन काल में उपयोग में, रागादि के साथ एक रूप परिणति का अभाव हो जाता है, समिति के परिपालन काल में भी वह जीव कर्मबंध से लेप को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि समिति का परिपालन करते हुए भी उसके प्रमाद प्रत्यय का अभाव है किन्तु अन्य जो तीन कषाय चतुष्क से सहित (अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क से सहित) जीव हैं उनके ज्ञान मात्ररूप संवेदन का अभाव होने से उस कषाय के अनुसार बंध नियम से होता है। कहा भी गया है-“रागादि को उपयोग की भूमि में नहीं ले जाता हुआ वह ज्ञान, केवलज्ञान मात्र रहता हुए अहो! यह वीतराग सम्यग्दृष्टि आत्मा कैसे बंध को प्राप्त हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है।”

अब “बंधुच्चिय”- इस पद के “बद्धमवि”- इस प्रकार से अर्थ भी उत्पन्न होता है, अर्थात् वीतराग सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के पूर्वबद्ध कर्म बालू की रज के समान रहते हैं। जैसे कि कहा है-

पूर्व में निबद्ध प्रत्यय वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के पृथ्वी पिण्ड के समान होते हैं और ज्ञानी के वे सभी बंधे हुए कर्म शरीर रूप बने रहते हैं ॥7॥

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स॥

(समयसार 169) ॥7॥

उत्थानिका—एदे भट्टजीवा किं हाणिं कुणंति त्ति वण्णेदि—

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य।

एदे भट्टविभट्टा सेसं पि जणं विणासंति ॥8॥

टीका—जे दंसणेसु भट्टा जे जीव सम्मदंसणेण विणट्ठा ते बहुविहाइं संकिदणायादिसत्थाइं पढिदूण वि णाणे भट्टा सम्म णाणेण रहिया। बहुविहतवोकम्मं कादूण वि चरित्तभट्टा य सम्मचारित्तेण भट्टा होति। णिग्गंथवीयरायमोक्खमग्गस्स सइहणं विणा णाणचारित्तजुत्ता वि ते जदो णाणचारित्तफलं अंतरंगे संपहि समभावजणिदसुहं पच्छा णिव्वाणसुहं ण पावेति तेण णाणचारित्तभट्टा वुच्चंति। एदे भट्ट वि भट्टा अत्थि। जे अण्णाणेण जिणदंसणेण पडिगूला ते भट्टा वुच्चंति तेसु वि जे बुद्धिपुव्विएण कुमदं सेवंति ते भट्टवि भट्टा होति। किं कारणं तस्सेदि चे—अण्णाणेण गहिदमिच्छासंकारा कदा वि

उत्थानिका— यह भ्रष्ट जीव क्या हानि करते हैं ? इस प्रकार से वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ— (जे) जो [मनुष्य] (दंसणेसु) सम्यग्दर्शन से (भट्टा) भ्रष्ट हैं (णाणे) सम्यग्ज्ञान से (भट्टा) भ्रष्ट हैं (चरित्तभट्टा य) सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं (एदे) वे (भट्टविभट्टा) भ्रष्टों में भी भ्रष्ट हैं (य) और (सेसं पि जणं) शेष अर्थात् दूसरे लोगों का भी (विणासंति) विनाश करते हैं।

टीकार्थ—जे दंसणेसु भट्टा जो सम्यग् दर्शन से भ्रष्ट जीव है वे बहुत प्रकार के संस्कृत, न्याय आदि शास्त्रों को पढ़कर भी णाणे भट्टा सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट होते हैं, बहुत प्रकार के तपः कर्म को करके भी चरित्तभट्टा य सम्यक् चारित्र से भ्रष्ट होते हैं निर्ग्रन्थ वीतराग मोक्षमार्ग के श्रद्धान के बिना ज्ञान और चारित्र से युक्त होते हुए भी वे जीव ज्ञान और चारित्र के फल रूप अंतरंग में वर्तमान में समभाव से जनित सुख और बाद में होने वाले निर्वाण सुख को चूँकि प्राप्त नहीं करते हैं इसलिए वे ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट कहे जाते हैं। ये जीव एदे भट्ट विभट्टा ये जीव भ्रष्टों में भी भ्रष्ट हैं, जो अज्ञान से जिनदर्शन के प्रतिकूल हुए हैं वे भ्रष्ट कहे जाते हैं किन्तु उनमें भी जो बुद्धिपूर्वक कुमत की सेवा करते हैं वे भ्रष्टों में भी भ्रष्ट कहे जाते हैं। किस कारण से उनको इस तरह कहा जाता है— अज्ञान से गृहीत मिथ्या संस्कार कभी भी सहसा जीवों से छूट जाता है जैसे कि इन्द्रभूति,

ये भ्रष्ट मात्र जिन दर्शन भ्रष्ट जो हैं, निम्नोक्त, निम्नतम-भ्रष्ट कनिष्ठ यों हैं।

धिक्कार ज्ञान-व्रत-भ्रष्ट कुधी कहाते, वे तो स्वयं मिट रहे पर को मिटाते ॥8॥

सहसा जीवेहिं मुच्चंति इंदभूदिगोवालादिव्व किंतु मिच्छाणाणेण गहिदमिच्छासंकारा कोडिभवसहस्सेहिं जीवेहिं ण दूरीभवन्ति मरीचिव्व। ते भट्ट वि भट्टा सेसं पि जणं विणासन्ति जहा मरीचिजीवेण मिच्छामदपसारेण कदं। वुत्तं च—

मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड् भूयमास्थितः।

मिथ्यात्ववृद्धिमकरो - दपसिद्धान्तभाषितैः ॥

(आदिपुराण 18/61)

तदुपज्ञमभूद् योगशास्त्रं तन्त्रं च कापिलम्।

येनाऽयं मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः ॥

(आदिपुराण 18/62) ॥8॥

उत्थानिका—अह सयंभट्टाणं जं कज्जं अइणिदिदं तं भणदि—

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी।

तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गतणं दिंति ॥9॥

गोपाल आदि का छूट गया था किन्तु मिथ्याज्ञान से गृहीत मिथ्या संस्कार करोड़ों सहस्र भवों के द्वारा भी जीव से दूर नहीं होता है जैसे कि मरीच का नहीं हुआ। ऐसे जीव ही भ्रष्टों में भ्रष्ट कहे जाते हैं, जो सेसं पि जणं विणासन्ति शेष जीवों का भी विनाश करते हैं। जैसे कि मरीचि के जीव ने मिथ्या मत के प्रसार के द्वारा किया। कहा भी है—भगवान् आदिनाथ का नाती मरीचि परिव्राजक साधु होकर के स्थित हो गया और उसने सिद्धान्त विरुद्ध भाषणों के द्वारा मिथ्यात्व की वृद्धि की। उसी के अनुसार योगशास्त्र और कपिलमत का सिद्धान्त प्रचलित हुआ, जिसके द्वारा यह लोक सम्यग्ज्ञान से पराङ्मुख होता हुआ मोहित हुआ है ॥8॥

उत्थानिका—अब जो स्वयं भ्रष्ट है उनके कार्य अतिनिन्दित होते हैं उन कार्यों को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो कोवि) जो कोई भी (धम्मसीलो) धर्मशील (संजमतवणियमजोय-गुणधारी) संयम, तप, नियम और योग गुणों का धारी है (तस्स) उसके (दोस) दोषों को (कहंता) कहता है [वह] (भग्गा) भ्रष्ट है (य) और (भग्गतणं दिंति) [दूसरों को भी] भ्रष्ट कर देता है।

टीकार्थ—जो को वि धम्मसीलो जो कोई भी धर्म स्वभाव वाला श्रमण है वह दयाधर्म के बल से रत्नत्रय के साधनों से उत्तमक्षमा आदि दशधर्मों की प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव

धारा स्वयं नियम संयम भोग-हारी, मूलोत्तरादि गुण ले तप योग-धारी।

ऐसे सुधर्मरत को कुछ भ्रष्ट स्वैरी, दोषी सुसिद्ध करते मुनि-धर्म-वैरी ॥9॥

टीका—जो को वि धम्मसीलो धम्मसहावो समणो सो दयाधम्मबलेण रयणत्तयसाहेणेण उत्तमखमादिदसधम्मपवुत्तीए अप्पाणं सुद्धं सहावं साधेदि। **संजमतव-णियम-जोयगुणधारी** जो खलु पंचिंदियमणिरोहणेण इंदियसंयमं छव्विहं पंचथावरतसकायाविराहेणेण पाणिसंयमं च छव्विहं अणुट्ठादि सो संजमधारी। जो अणसणादिबाहिरतवेण छव्विहेण सह अब्भंतरं छव्विहं पायच्छित्तादितवसाहणं कुणदि सो तवधारी। परिमिदकालेण जोग्गवत्थुं वि परिच्चयदि सो णियमधारी। अहवा णियमेण अवस्समेव कादव्वं तं छव्विहमावस्सकम्मं काले करेदि सो णियमधारी। वरिसादावणसीदजोगेण ज्ञाणसमाहिजोगेण य जो वट्ठेदि सो जोयधारी। अट्ठावीस मूलगुणेण सह चउरसीदिलक्खुत्तरगुणे पालेदि सो गुणधारी। **तस्स** एवंविहगुणधरस्स साहुस्स **य दोस कहंता** माणमच्छरेहि णिंदणं कुव्वंता जणा सयं **भग्गा** होंता वि तस्स **भग्गत्तणं दिंति** णिद्धोसे वि दोसं वदंति। ते जणा सगुणस्स गुणे असहंता सगाभिमाणपोसणट्ठं एवं कुणंति तेण ते साहवो वि दुज्जणा भग्गा होंति। सज्जणो दु परमाणुपमाणं वि गुणं दिट्ठूण हरिसेदि कया वि ण मच्छरेदि। वुत्तं च—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णास्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥9॥

को साधता है। **संजमतव-णियम-जोयगुणधारी** जो पंचेन्द्रिय और मन के निरोधपूर्वक छह प्रकार के इन्द्रिय संयम तथा पंचस्थावर और त्रसकाय की विराधना से रहित होकर छह प्रकार के प्राणीसंयम का अनुष्ठान करता है वह संयमधारी कहलाता है। जो अनशन आदि छह प्रकार के बाहरी तपों के साथ प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार के अभ्यंतर तपों का साधन करता है वह तपधारी कहलाता है। परिमित काल के लिए योग्य वस्तु का भी परित्याग कर देने वाला नियमधारी कहलाता है अथवा नियम से जो अवश्य ही करने योग्य है ऐसे छह प्रकार के आवश्यक कार्यों को समय पर करने वाला नियमधारी कहलाता है। वर्षा, आतापन और शीतयोग के द्वारा तथा ध्यान, समाधि के योग के द्वारा जो प्रवृत्ति करता है वह योगधारी कहलाता है। 28 मूलगुणों के साथ 84 लाख उत्तर गुणों का जो पालन करता है वह गुणधारी कहलाता है। **तस्स** इस प्रकार के गुणों को धारण करने वाले साधु के **य दोस कहंता** जो व्यक्ति मान, मत्सर से निंदा करते हुए दोष कहते हैं वे स्वयं **भग्गा** भ्रष्ट होते हुए भी उसको **भग्गत्तणं दिंति** अर्थात् धर्मात्मा पुरुषों को भ्रष्ट बना देते हैं अर्थात् निर्दोष में भी दोष का कथन करते हैं। जो निर्दोष में भी दोष लगाते हैं, वे लोग गुण सहित साधु के गुणों को सहन नहीं करते हुए अपने अभिमान का पोषण करने के लिए इस प्रकार करते हैं। इसलिए वे साधु भी दुर्जन और भ्रष्ट होते हैं। सज्जन तो परमाणु प्रमाण भी किसी दूसरे के गुणों को देखकर के हर्ष को प्राप्त होता है और वह कभी भी मात्सर्यभाव धारण नहीं करता है। कहा भी है—जो मन, वचन, काय में पुण्य रूपी अमृत से पूर्ण है वे तीन लोक को अपने उपकार की परम्पराओं से प्रसन्न करते हुए पर गुणों के परमाणु को भी पर्वत के समान बढ़ा-चढ़ा करके नित्य ही अपने हृदय को विकसित करते हुए रहते हैं। वे संत कितने से होते हैं ? अर्थात् बहुत थोड़े से होते हैं ॥9॥

उत्थानिका—जिणदंसणभट्टस्स दिट्ठंतदारेण हाणिं भणदि गाहाद्वएण—

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवट्ठी ।

तह जिणदंसणभट्टा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥10॥

टीका—जह दुमस्स जहा रुक्खस्स मूलम्मि विणट्ठे बीजभागे विणासे जादे सदि परिवार पागदबलेण विहत्तिलोवो तेण परिवारस्स परवट्ठी णत्थि तह जिणदंसणभट्टा जिणरूवजोग्गगुणेण भट्टा मूलविणट्ठा मूलगुणेषु भट्टा वुच्चंति । ते वि ण सिज्झंति परिणिव्वाणं ण जंति ॥10॥

उत्थानिका— तहेव.....

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होई ।

तह जिणदंसण मूलो णिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥11॥

टीका—जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होदि जदो खंधुप्पत्तीए मूलं हि मूलकारणं । खंधे सदि साहाए परिवारो कलिकापुप्फफलादीओ जायंते । तस्सेव बहुगुणो बहु खंधादी पसरदि

उत्थानिका—अब जिनदर्शन से भ्रष्ट हुए साधु के दृष्टान्त के द्वारा दो गाथाओं से हानि दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (मूलम्मि) जड़ के (विणट्ठे) विनष्ट हो जाने पर (दुमस्स परिवार) वृक्ष के परिवार की (परिवट्ठी) परिवृद्धि (णत्थि) नहीं होती (तह) उसी प्रकार [जो] (जिणदंसण भट्टा) जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं, [वे] (मूलविणट्ठा) मूल विनष्ट हैं [ऐसे जीव] (ण सिज्झंति) सिद्ध नहीं होते हैं ।

टीकार्थ—जह दुमस्स जिस प्रकार से वृक्ष का मूलम्मि विणट्ठे बीज भाग के विनाश हो जाने पर परिवार यहाँ प्राकृत भाषा के बल से विभक्ति का लोप हुआ है इसलिए परिवार की परवट्ठी णत्थि वृद्धि नहीं होती है, तह जिणदंसण भट्टा उसी प्रकार से जिनदर्शन से भ्रष्ट हुए जिन रूप योग्य गुणों से भ्रष्ट हुए मूलविणट्ठा वह मूल से ही अर्थात् मूलगुणों से ही भ्रष्ट कहे जाते हैं, वे ण सिज्झंति निर्वाण को प्राप्त नहीं करते हैं ॥10॥

उत्थानिका—उसी प्रकार से पुनः कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (मूलाओ) मूल से (खंधो) स्कंध (साहापरिवार) शाखा का परिवार (बहुगुणो) बहुगुणा (होई) होता है (तह) वैसे (मोक्खमग्गस्स) मोक्षमार्ग का

हो मूल नष्ट जिसका, फल फूल दाता, फूले फले न फिर वो द्रुम सूख-जाता ।

त्यों मूल नष्ट जिन दर्शन भ्रष्ट देही, होता न मुक्त भव से न बने विदेही ॥10॥

ज्यों मूल के वश हि वृक्ष विशाल होता, शाखोपशाख परिवार अपार ढेता ।

त्यों मोक्षमार्ग जिनदर्शन मूल भाता, प्यारा जिनेश-मत है इस भाँति गाता ॥11॥

त्ति दिट्ठंतो वुच्चदे । तह जिणदंसण मोक्खमग्गस्स मूलो णिड्ढिट्ठो जिणदंसणं जिणमदानुयूलायारो सो एव मूलो तेण विणा संजमक्खंधबंधो ण हवे गुत्तिसमिदिपवालो, जमणियमजलस्स सिंचणं वि णिरत्थयं हवे । तेण सुद्धप्परमणसहावगुणो दयाखमासमादिभावगुणा य कधं हवे त्ति पंचसंघा जिणदंसणेण बहिब्भूदा विण्णेया ।

गोपुच्छकश्वेतवासा द्रविडो यापनीयः ।

निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

ते खलु गोवुच्छयसेदंबर-दविड-जावणिय-णिप्पिच्छसंघेण वुत्ता । तेसु तदियलोहाइरियस्य सण्णासमरणपइण्णा भंगकारणेण उववण्णो गोवुच्छयसंघो अवरणामेण काट्ठासंघो णंदितड-माथुर-बागड-लाडबागडगच्छसाहाहिं पसिद्धो विक्कमइस्स तेवण्णाहियसत्तसयतमे । विक्कमइस्स छत्तीसाहियसयतमे वरिसे भइबाहुस्स सिस्ससंताइरियेण सोरट्टदेसस्स वल्लभीपुरे दुब्भिक्खसंपत्तीए वत्थपत्तादिधारणणियमो कदो । तेण सेयंबरसंघस्सुववत्ती । विक्कमरायस्स मरणोवरंते

(मूलो) मूल (जिणदंसण) जिनदर्शन (णिड्ढिट्ठो) निर्दिष्ट है ।

टीकार्थ—जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होदि चूँकि स्कंध की उत्पत्ति में मूल ही उसका मूल कारण होता है, स्कंध होने पर शाखा का परिवार कली, पुष्प, फल आदि उत्पन्न होते हैं, उसी वृक्ष के ही बहुत गुण बहुत स्कंध आदि के रूप में फैलते हैं इस प्रकार यह दृष्टान्त हुआ अब दाष्टांत कहते हैं, उसी प्रकार से **तह जिणदंसण मोक्खमग्गस्स मूलो णिड्ढिट्ठो** उसी प्रकार से जिनदर्शन अर्थात् जिनमत के अनुकूल आचरण वह ही मूल है उसके बिना संयम के स्कंध का बंध नहीं बनता है । गुप्ति-समिति रूप प्रवाल, यम-नियम रूप जल का सिंचन भी निरर्थक होता है, इसी कारण से शुद्धात्मा में रमण स्वभाव वाले गुण दया, क्षमा, शम आदि ये भाव गुण होते हैं, इसलिए जो जिनदर्शन से बहिर्भूत पाँच संघ है उनमें ये गुण कैसे हो सकते हैं ? यह जानना ।

“गोपुच्छ, श्वेतवास (श्वेताम्बर), द्रविड, यापनीय और निष्पिच्छ; ये पाँच जैनाभास कहे गए हैं ।” वे गोपुच्छ, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय और निष्पिच्छ संघ से कहे गए हैं । उनमें तृतीय लोहाचार्य के संन्यास मरण की प्रतिज्ञा के भंग करने से गोपुच्छ संघ उत्पन्न हुआ । अपरनाम काष्ठा संघ का है, जो नंदीतट, माथुर, बागड, लाट, बागड, गच्छ शाखाओं से प्रसिद्ध है । यह संघ विक्रम संवत् 753 में हुआ । विक्रम संवत् 136 में भद्रबाहु के शिष्य शांति आचार्य ने सौराष्ट्र देश के वल्लभीपुर में दुर्भिक्ष की प्राप्ति होने पर वस्त्र, पात्र आदि को धारण करने का नियम बनाया । जिससे श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई । विक्रम राजा के मरण के उपरान्त 526 वर्ष बाद पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि के सावद्य, अप्रासुक भोजन आदि अनेक प्रकार के पापोपदेश को करके द्रविड संघ की उत्पत्ति की । कल्याण नगर में विक्रम राजा के मरण के उपरान्त 705 वर्ष बाद श्रीकलश

पंचसयछब्बीसवरिसे जादे पुज्जपादसिस्सेण वज्जणंदिणा सावज्जाप्पासुयभोयणादिअणेय-
विहपावोवदेसं किच्चा दविड-संघस्सुववत्ती कदा। कल्लाणणयरे विक्कमरायस्स मरणोवरंते
सत्तसयपंचवरिसे जादे सिरिकलससाहुणा जावणियसंघो ठविदो जत्थ इत्थिमुत्तिकेवलि-
भुत्तियादिसिद्धंता णिरूविदा। णिप्पिच्छसंघस्सावरणामो माहुरसंघो महुराए काट्ठासंघस्सुवत्तीए
बेसयवरिसाणंतरं णिग्गदो ॥11॥

उत्थानिका—अह दंसणभट्ठाणं अण्णं वि मदचेट्ठिदं वण्णेदि-

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।

ते होंति लुल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥12॥

टीका—जे दंसणेसु भट्ठा दंसणधराणं णिग्गंथवीयरायजिणमग्गेण चरंताणं पाए पाडंति
णियणाणपवयणपहावलोयपसंसिदतवादिकित्तिकारणेण अहं जेट्ठो त्ति माणेण णमोक्कारं करावेंति
ते कालं कादूण परभवे लुल्लमूआ हत्थरहिदा वयणसत्तीए सुण्णा वा होंति पुण पच्छा वि तेसिं

साधु ने यापनीय संघ स्थापित किया। जिसमें स्त्रीमुक्त, केवलीभुक्ति आदि सिद्धान्त बनाये गए।
निष्पिच्छ संघ का दूसरा नाम माथुर संघ है, जो मथुरा में काष्ठा संघ की उत्पत्ति के 200 वर्ष बाद
निकला ॥11॥

उत्थानिका—अब दर्शन से भ्रष्ट जनों की अन्य भी मद के कारण से उत्पन्न हुई चेष्टाओं का
यहाँ वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जे) जो (दंसणेसु) सम्यग्दर्शन से (भट्ठा) भ्रष्ट (दंसणधराणं) सम्यग्दर्शन
धारकों से (पाए पाडंति) पैर पड़वाना चाहते हैं, उनसे अपनी पूजा-सम्मान चाहते हैं (ते) वे
(लुल्लमूआ) लूले और गूंगे (होंति) होते हैं (तेसिं) उन्हें (बोही) बोधि (पुण) पुनः
(दुल्लहा) दुर्लभ है।

टीकार्थ—जे दंसणेसु भट्ठा दंसणधराणं निर्ग्रन्थ वीतराग जिनमार्ग से आचरण करने वालों
को पाए पाडंति अपने ज्ञान, प्रवचन का प्रवाह, लोक में प्रशंसित होना तथा तप आदि की कीर्ति
के कारण से मैं ज्येष्ठ हूँ इस प्रकार अभिमान के द्वारा उनको अपने पैरों में पड़ाते हैं अर्थात् नमस्कार
आदि करवाते हैं ते वे मरण करके परभव में लुल्लमूआ हाथों से रहित लूले और वचन शक्ति से
शून्य मूक होंति होते हैं। पुण तेसिं बोही और बाद में भी उन्हें रत्नत्रय की सम्पत्ति दुल्लहा दुर्लभ
होती है, कहा भी है—

जो भ्रष्ट दर्शन, सुदर्शनधारियों से, हैं चाहते पद प्रणाम व्रती-जनों से।

लूले व मूक बनते परलोक में हैं, पाते न बोधि भ्रमते त्रयलोक में हैं ॥12॥

बोही रयणत्तयसंपत्ती दुल्लहा होदि। वुत्तं च—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥

(प्रवचनसार 3/66)

केसु पोत्थयेसु—“जे दंसणेसु भट्टा पाए ण पडंति दंसणधराणं” त्ति पाठो वि लब्धदे।
तेण जे पुरिसा दंसणंभट्टा होंता वि दंसणसहिदाणं ण णमस्संति, ण तेसिमादरं कुणंति ते वि
लुल्लमूआ होंति तेसिं वि बोही दुल्लहा ॥12॥

उत्थानिका—अह विवरीयभावेण तप्परूवणा कीरदे—

जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणानं ॥13॥

टीका—जे दंसणसहिदा वि य तेसिं दंसणभट्टाणं जाणंतां लज्जगारवभयेण च पडंति तेसिं

‘जो श्रमण स्वयं जघन्य गुणों वाला होने पर भी मैं श्रमण ऐसे गर्व के कारण दूसरे अधिक गुण वाले श्रमणों से विनय की इच्छा करता है, वह श्रमण्य के गर्व के कारण अनन्त संसारी होता है।’ किन्हीं पोथियों में “जे दंसणेसु भट्टा पाए ण पडंति दंसणधराणं” यह पाठ भी उपलब्ध होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि जो पुरुष स्वयं दर्शन से भ्रष्ट होते हुए भी दर्शन से सहितों को नमस्कार नहीं करते हैं, न उनका आदर करते हैं वे भी लूले और मूक होते हैं, उनके लिए भी बोधिदुर्लभ है ॥12॥

उत्थानिका—अब उसी प्ररूपणा को विपरीत भाव से करते हैं—

अन्वयार्थ—(जे वि) जो भी (जाणंता) जानते हुए (लज्जगारवभयेण) लज्जा, गारव और भय से (तेसिं) उन [मिथ्यादृष्टियों] के (पडंति) [पैर] पड़ते हैं, (पावं अणुमोयमाणानं) पाप की अनुमोदना करते हैं (तेसिं पि) उनको भी (बोही) बोधि (णत्थि) नहीं है।

टीकार्थ—जे अर्थात् दर्शन से सहित वि तेसिं दंसण भट्टाणं उन दर्शन भ्रष्टों को जाणंता जानते हुए लज्जागारवभयेण य पडंति लज्जा, गारव और भय से उनके पैर पड़ते हैं तेसिं पि पावं अणुमोयमाणानं बोही णत्थि उन पाप की अनुमोदना करने वालों के लिए भी बोधि प्राप्त नहीं होती है। मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा भी मिथ्यात्वरूपी पाप का समर्थन का कारण होने से पाप ही देती है, इसी कारण से उन मिथ्यादृष्टियों की अनुमोदना करने वालों के लिए बोधिदुर्लभ होती है।

लो! जानबूझ यदि दर्शन भ्रष्ट को ही, लज्जा प्रलोभ भय से नमता सुयोगी।
पाता न बोधि जिनलिंग सुधारता भी, जो पाप की विनय है करता वृथा ही ॥13॥

पि पावं अणुमोयमाणाणं बोही णत्थि । मिच्छादिद्वीणं पसंसा वि मिच्छत्तपावस्स समत्थणकारणादो पावं हि देदि । तेण तेसिं पि बोही दुल्लहा होदि । तेण लोए जीवा किं कहिस्संति—जं इमो साहू अइगव्विओ त्थि । अण्णो दु तस्स दंसणट्ठं समीवमागदो, हत्थाणमजुलिबद्धो होदूण पिच्छिणा वंददि पायं पडेइ, **विणएण** सक्कारदि तहावि इमो तं पडि ण णमदि ण हत्थे पिच्छियं गेण्हदि इच्चादि । एवं चिंतिरुण जे दंसणभट्टाणं जिणमदविहिदिचरित्त—रहिदाणं पाए पडंति ते लज्जाए कुव्वंति । तहेव गारवो तिविहो रसिद्धिसातगारवभेएण । तत्थ जिणमदम्मि दिक्खिदा वि केई साहवो महाधणियसावयमज्जे हि वसंति भोयणं कुव्वंति संपहिकालजणिदसव्वसुहसाहणाणि सेवंति । भोयणसालाए जहेच्छं उण्हं उण्हं पूडियादियं अइसीदं जलादियं भुंजंति । सदेव रागवंतसावयसावियासु परिवारेति तेण ते चरित्ताहिमाणं मोत्तूण पमादिणो भवंति । एदेण कारणेण ते चिंतंति जो ववहारो लोए सव्वाणं रोचेदि तमेव करणिज्जो त्ति रसगारवेण दंसणभट्टाणं पाए पडंति । केई साहवो तवपहावेण मंततंतेण वा खुद्देवदेवीणं सिद्धीए अहवा सावयदाणजणिदधणसंचिदमदेण चरित्तस्स बहुमाणं ण

इससे लोक में जीव क्या कहेंगे कि यह साधु तो अति गर्व वाला है अन्य तो उसके दर्शन के लिए समीप में आया है । हाथों से अंजुली बद्ध होकर बनाए हुए पिच्छिका से वंदना से, पैरों में गिरता है, विनय से सत्कार करता है फिर भी यह साधु उसके प्रति नमन नहीं करता है और न हाथों में पिच्छिका ग्रहण करता है इत्यादि । इस प्रकार चिंतन करके जो दर्शन से भ्रष्ट साधु हैं, जिनमत में कहे हुए चरित्र से रहित है, उनके पैर पड़ता है, वह लज्जा से ऐसा करता है । उसी प्रकार गारव तीन प्रकार का है— रसगारव, ऋद्धिगारव और सात गारव । उसमें जिनमत में दीक्षित होकर के भी कितने ही साधु महा धनवान श्रावकों के बीच में रहते हैं, भोजन करते हैं और वर्तमान काल में उत्पन्न हुए सभी सुख के साधनों का भी सेवन करते हैं, भोजनशाला में अपनी इच्छानुसार गरम-गरम पुड़ी आदिक और अति ठंडा जल आदिक भी सेवन करते हैं, सदैव रागवंत श्रावक और श्राविकाओं में ही घिरे रहते हैं इसलिए वे चरित्र के अभिमान को छोड़कर के प्रमादी हो जाते हैं । इस कारण से वे चिंतन करते हैं कि जो व्यवहार लोक में सभी के लिए रुचता है वही करना चाहिए, इस प्रकार रस गारव के द्वारा यह दर्शन भ्रष्टों के पैर भी पड़ते हैं । कितने ही साधु तप के प्रभाव से अथवा मंत्र-तंत्र के द्वारा क्षुद्र देवी देवताओं की सिद्धि से अथवा श्रावकों के दान से उत्पन्न हुए धन को संचित करके, उससे उत्पन्न हुए मद से चरित्र का बहुमान नहीं करते हैं, वे ऋद्धि गारव के द्वारा दर्शन से भ्रष्ट जनों के पैर पड़ते हैं । जो साता वेदनीयकर्म के उदय के द्वारा सदा निरोगी हैं सभी प्रकार से अनुकूल वातावरण में सुख से जीवन जीते हैं, वे भी स्वयं परीषह आदि को सहन करने से दूर होने के कारण चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भी दर्शन से भ्रष्टों के सातागारव के द्वारा पैर पड़ते हैं । इसी प्रकार से यह साधु राजा, मंत्री, श्रेष्ठी आदि जनों के द्वारा पूजित है इस प्रकार इसकी वंदना आदि नहीं करने में मुझे बाधा उत्पन्न होगी इस भय से कितने ही दर्शन भ्रष्टों के पैर पड़ते हैं । **प्रश्न**—किस कारण से ऐसे

करेंति ते इड्डिगारवेण दंसणभट्टाणं पाए पडंति । जे खलु सादावेदणीयकम्मोदएण सया णिरोगिणो सव्वपयारेण अणुगूलवादावरणे सुहेण जीवंति ते वि सयं परीसहादिसहणदूरगा चरित्तभट्टा दंसणभट्टाणं पाए सादगारवेण पडंति । तहेव इमो साहू रायमंत्तिसेट्ठियादियजणेहि पूजिदो तेण एदस्स वंदणादियाकरणे मज्झ बाहा जायेज्ज त्ति भएण केई दंसणभट्टाणं पाए पडंति । किं कारणेण ते बोहिं ण लभंति त्ति चे? चारित्ताराहणाए विणा तदुवलद्धीए अहावादो । जे खलु चारित्ताराहिया होंति ते सयं वि अप्पमादेण आयारमग्गेण चारित्तं पालंति । ते कयावि हीणचारित्तधराणं ण लज्जादिभएण पाए पडंति एवंविहकरणे दंसणचारित्तभट्टप्पसंगादो । वुत्तं च पवयणसारे—

अधिगुणा सामण्णे वडुंति गुणाधरेहिं किरियासु ।

जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्टचारित्ता ॥

(प्रवचनसार 3/67)

उत्थानिका—अह दंसणं मगं वोच्छामि, दंसणमूलो धम्मो, तह जिणदंसणमूलो इच्चादि गाहासु वुत्तदंसणसङ्खस्स अत्थं ण जाणामि त्ति संकाए णिरायरणट्टमाह—

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।

णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥14॥

साधु बोधि को प्राप्त नहीं होते हैं? **उत्तर**—चारित्र आराधना के बिना बोधि की उपलब्धि का अभाव है। जो चारित्र के आराधक होते हैं, वे स्वयं भी प्रमाद रहित होकर के आचार मार्ग के द्वारा चारित्र का पालन करते हैं। और वे कदापि हीनचारित्र धारण करने वालों की भी लज्जा आदि भय के द्वारा पैर नहीं पड़ते हैं क्योंकि इस प्रकार पैर आदि पड़ने में दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट होने का प्रसंग उत्पन्न होता है। **प्रवचनसार** में कहा है—जो श्रामण्य में अधिक गुण वाला होकर के निम्न गुण वालों के साथ क्रिया आदि में वर्तन करता है तो वे मिथ्यात्व से युक्त हो जाते हैं और भ्रष्ट चारित्र वाले हो जाते हैं।

उत्थानिका—अब दर्शन मार्ग को कहूँगा। दर्शन मूलक धर्म है उसी प्रकार से जिन दर्शन मूल है इत्यादि इन गाथाओं में दर्शन शब्द को कहा गया है उसका अर्थ मुझे समझ में नहीं आया है ऐसी शंका होने पर उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(दुविहं पि) दो प्रकार के भी (गंथचायं) परिग्रह का त्याग करता है (तीसु) तीनों (जोएसु वि) योगों पर (संजमो) संयम (ठादि) रखता है, (णाणम्मि) ज्ञान में (करणसुद्धे) इन्द्रियों की शुद्धि में और (उब्भसणे) खड़े होकर आहार लेने [वाले के]

वाक्काय चित्त पर संयम पूर्ण होते, जो अंतरंग-बहिरंग निसंग होते।

ले शुद्ध अन्न स्थित हो शुचि बोध धारें, सो जैन-दर्शन, सुएषण दोष टारे ॥14॥

टीका—दुविहं पि गंथचायं गंथो परिग्रहो बहिरब्धंतरभेएण दुविहो होदि । तत्थ खेत्तवत्थु—हिरण्णसुवण्ण—धणधण्णदासीदासकुप्पभण्डभेएण दसविहो बाहिरो परिग्रहो ।

मिच्छत्ततिवेदचत्तारिकसायछव्विहणोकसायभेएण चउदसविहो अब्धंतरपरिग्रहो । तं दुविहं पि जो चयदि तस्स दंसणस्स पढमं लक्खणं भणिदं । बहिपरिग्रहस्स परिच्चागो दु संभवदि किंतु अंतरंगपरिग्रहस्स चागो कथं हवेज्ज त्ति चे ? ण एस दोसो; ‘मुच्छा परिग्रहो’ त्ति लक्खणस्स अणुसारेण अंतरंगसंगस्स चागो वि विज्जदि । तं जहा—जस्स मिच्छत्तस्स परिपोसणट्ठं देवगदिणाम—कम्मोदयजणिददेवदेवीपज्जायस्स पूयादिविसए रदी ण हवे तच्चत्थस्स विसए य एयंतरूवेण सद्धहणं ण हवे सो मिच्छत्तस्स परिच्चागी । तिवेदरायजणिदपीडापरिहारं केण वि पयारेण ण कुणदि किंतु सीलसहावे संतुट्ठो होदि सो तिवेदपरिग्रहस्स चागी । कसायणोकसायाणमवसी तप्परिच्चागी विण्णेओ त्ति ।

(दंसणं होई) सम्यग्दर्शन होता है ।

टीकार्थ—दुविहं पि गंथचायं बहिरंग और अभ्यंतर के भेद से वह परिग्रह दो प्रकार का होता है । उसमें क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड के भेद से 10 प्रकार का बाहरी परिग्रह है । मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक के ऐसे तीन वेद, चार प्रकार की कषाय, छह प्रकार की नोकषाय इन 14 भेदों के द्वारा, अभ्यंतर परिग्रह 14 प्रकार का है । इन दोनों ही प्रकार के ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह को जो छोड़ता है उसको दर्शन का **प्रथम लक्षण** कहा गया है, बाह्यपरिग्रह का त्याग तो संभव होता है किन्तु अंतरंग परिग्रह का त्याग कैसे हो? यह कोई दोष नहीं है **मुच्छा परिग्रहो** अर्थात् मूर्च्छा परिग्रह है इस प्रकार से इस लक्षण के अनुसार अंतरंग परिग्रह का त्याग भी देखा जाता है । वह इस प्रकार है—जिस मिथ्यात्व का परिपोषण करने के लिए देवगति नामकर्म के उदय से उत्पन्न देवी देवता पर्याय की पूजा आदि के विषय में रति नहीं होगी और तत्त्वार्थ के विषय में जिसका एकांतरूप से श्रद्धान नहीं होगा वह मिथ्यात्व का परित्यागी होता है । तीन वेदों के राग से उत्पन्न हुई पीड़ा का परिहार जो किसी भी प्रकार से नहीं करता है, किन्तु शील स्वभाव में संतुष्ट होता है वह तीन वेदरूपी परिग्रह का त्यागी होता है, कषाय और नोकषायों के वशीभूत नहीं हुआ वह जीव उन कषाय और नोकषाय का परित्यागी जानना चाहिए, इस तरह से अंतरंग परिग्रह का त्याग भी किया जाता है । **तीसु वि जोएसु संजमो ट्ठादि** यह दर्शन का **द्वितीय लक्षण** कहा है अर्थात् तीनों योगों में वह संयम में स्थित रहता है । उस जीव का मन के संयम से, वचन के संयम से और काय के संयम से प्रवर्तन होता है, पंचेन्द्रिय के विषय भोगों में रति, उन पंचेन्द्रिय के विषय भोगों का चिंतन जिसके नहीं होता है वह मन से संयमी कहलाता है । विवादित प्रसंग, व्यंग, विकथा, कठोर, निष्ठुर आदि वचनों के परिहार से भाषण करना वचन का संयम है । काय के चलाचलन में प्राणी रक्षण में तत्पर होना काय का संयम है । **णाणम्मि** अर्थात् ज्ञान स्वभाव

तीसु वि जोएसु संजमो द्वादि त्ति विदियं लक्खणं। तस्स मणसंजमेण, वचिसंजमेण, कायसंजमेण य पवट्ठणं होदि। पंचिंदियविसयभोगेसु रदी तच्चिंतणं य जस्स ण विज्जदि सो मणसंजमी।

विवादिदपसंग-विकहावियंगपरुसणिट्ठुरादिवयणाणं परिहारेण भासणं वयणसंजमो। कायस्स चलाचले पाणिरक्खणपरो कायसंजमो। **णाणम्मि** णाणसहावाहियप्पणो सरूवे ठादि त्ति तिदियलक्खणं। **करणसुद्धे** देववंदणापडिक्कमणसज्झायलक्खणरूवाणुद्वाणे मणवचिकायकरणतियेण सुद्धो चउत्थलक्खणं। **उब्भसणे** पाणिपत्ते उब्भसणेण एयवारं एगट्ठाणे भोयणं त्ति पंचमलक्खणं। एवं पंचविहलक्खणेण **दंसणं होई** दंसणमगं भवदि ॥14॥

उत्थानिका—अह सम्मत्तस्स माहप्पं परूवेदि—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी।

उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥15॥

टीका—सम्मत्तादो णाणं सम्मत्तं ‘छहदव्वणवपयत्था’ त्ति अगगाहाए लक्खणं भणिहिदि। तदो सम्मत्तादो अप्पणो खओवसमियणाणं सम्मण्णाणं होदि पदत्थविसए कारणविवज्जासस्स भेयाभेयविवज्जासस्स सरूवविवज्जासस्स य अहावादो। **णाणादो** विवज्जासरहिदणाणुवजोगादो

से परिपूर्ण आत्मा के स्वरूप में जो स्थित होता है यह उस दर्शन का **तृतीय लक्षण** है **करणसुद्धे** देववंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय लक्षण रूप अनुष्ठान में मन, वचन, काय इन तीन करणों से जो शुद्ध है वह करण शुद्ध कहलाता है। यह दर्शन का **चतुर्थ लक्षण** है **उब्भसणे** अर्थात् अपने कर पात्र में खड़े होकर के एक बार, एक स्थान पर भोजन करना यह उस दर्शन का **पाँचवाँ लक्षण** है। इस प्रकार पाँच लक्षणों से सहित दंसणं होई दर्शन कहा जाता है। वही दर्शन मार्ग होता है ॥14॥

उत्थानिका—अब सम्यक्त्व की महिमा का प्ररूपण करते हैं—

अन्वयार्थ— (सम्मत्तादो) सम्यक्त्व से (णाणं) ज्ञान होता है (णाणादो) ज्ञान से (सव्वभाव) समस्त पदार्थों की (उवलद्धी) उपलब्धि होती है (पुण) पुनः (उवलद्धपयत्थे) उपलब्ध पदार्थ में (सेयासेयं) श्रेय और अश्रेय को (वियाणेदि) जानता है।

टीकार्थ—सम्मत्तादो णाणं छह द्रव्य और नौ पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है इस प्रकार आगे गाथा में सम्यक्त्व का लक्षण कहा जायेगा। उस सम्यक्त्व से ही आत्मा का क्षयोपशम ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। पदार्थों के विषय में कारण विपर्यास का और भेदा-भेद विपर्यास का तथा स्वरूप विपर्यास का अभाव हो जाने से ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। **णाणादो** विपर्यास से रहित ज्ञानोपयोग से ही **सव्वभावउवलद्धी** अर्थात् सभी पदार्थों की उपलब्धि होती है। भाव यानि पदार्थ।

सम्यक्त्व से प्रथम उत्तम बोध होता, सद्बोध से सब पदार्थ सुशोध होता।

सत्शोध से पुनि हिताहित ज्ञान होता, सम्यक्त्व मोक्ष-पथ में वर-दान होता ॥15॥

सव्वभावउवलद्धी । भावा पदत्था । सव्वभावा जीवाजीवासवबंधसंवरणिज्जरा मोक्खपुण्णपावा । तेसिं उवलद्धी ववहारणिच्छयणएण जहुत्तं तहा पत्ती । **पुण उवलद्धपयत्थे** पदत्थाणं सम्मं उवलद्धीए **सेयासेयं वियाणेदि** किं सेयो हियंकरो कल्लाणयरो वा किं असेयं अहियकरो संसारकरो वा चेदि ॥15 ॥

उत्थानिका—अह सम्मणाणिस्स कज्जं कहेदि—

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि ।

सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥16 ॥

टीका—**सेयासेयविदण्हू** सगप्पा सव्वपदत्थेसु भिण्णो जीवपदत्थोत्थि । सो खलु अणादिय-कम्मरूवाजीवपदत्थस्स संजोगेण णिच्चं आसवबंधपुण्णपावसंजुत्तो होदि तेण य तस्स संसारो अणादिओ जादो । संपहि आसवबंधादिपदत्थाणं णिरोहेण संवरणिज्जरकारणे गेण्हदूण मोक्खस्सुवलद्धी कायव्वा त्ति । सो पुण **उद्धुददुस्सील** दुस्सीलो सहावपडिबंधगभावा मिच्छताविरदपमादी ते उद्धुदा विणट्ठा जेण सो तहावुत्तं । **सीलवंतो** वि सो हि भेदाभेदरयणत्तयधारगो

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये सभी भाव या पदार्थ कहे जाते हैं । इन सभी पदार्थों की उपलब्धि व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा जिस प्रकार से कही गई है उसी प्रकार से उनकी प्राप्ति सम्यग्ज्ञानी को होती है । **पुण उवलद्धपयत्थे** पदार्थों की समीचीन रूप से उपलब्धि हो जाने पर **सेयासेयं वियाणेदि** क्या श्रेयस् अर्थात् हितकर है या कल्याण करने वाला है और क्या **अश्रेयस्** अर्थात् अहितकर है या संसार का कारण है, यह ज्ञान भी हो जाता है ॥15 ॥

उत्थानिका—अब सम्यग्ज्ञानी का कार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(**सेयासेयविदण्हू**) श्रेय-अश्रेय का जानने वाला (**उद्धुददुस्सील**) दुःशील को छोड़कर (**सीलवंतो**) शीलवान होता हुआ (**वि**) भी (**सीलफलेणब्भुदयं**) शील के फल से [स्वर्गादि] अभ्युदय को प्राप्त करता है (**तत्तो पुण**) उसके बाद (**णिव्वाणं**) निर्वाण को (**लहइ**) प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—**सेयासेयविदण्हू** अपनी स्वआत्मा सभी पदार्थों में भिन्न है, इस प्रकार से जीव पदार्थ है । वह जीव अनादि से कर्म रूप अजीव पदार्थ के संयोग से नित्य ही आस्रव, बंध, पुण्य और पाप से संयुक्त हो जाता है । इस कारण से उसका संसार भी अनादि होता है । वर्तमान में आस्रव, बंध आदि पदार्थों के निरोध से संवर और निर्जरा के कारणों को ग्रहण करके मोक्ष की उपलब्धि करना चाहिए, ऐसा जानने वाला ही श्रेय और अश्रेय का जानकार कहलाता है । वह ही **उद्धुददुस्सील** दुःशील अर्थात् स्वभाव के प्रतिबंधक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि भाव है, उनको जिसने धो लिया है या विनष्ट कर दिया है वह **उद्धुददुस्सील** कहा जाता है । **सीलवंतो वि** वह जीव ही भेदाभेद

ज्ञाता बने जब हिताहित के अमानी, मिथ्या कुशील तज शील सुधार ज्ञानी ।

स्वर्गीय वैभव विलास नितान्त पाते, औ अन्त में बन अनन्त, भवान्त जाते ॥16 ॥

पुण्णपावकिरियासु रागं मोत्तूण सव्वकम्मणोकम्मविमुत्तमप्पणो सीलसहावे लीणो होदि । वुत्तं च-

जह णाम को वि पुरिसो सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं ।

वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा ॥

(समयसार 156)

सो हि जदा **सीलफलेण** णियप्पसहावे थिरत्तं ण पावेदि तदा धम्मसुक्कझाणबलेण कालं कादूण **अब्भुदयं** वेमाणियदेवचक्कवट्टियादिसुहं **लहइ तत्तो पुण** पच्छा वीयरगो होदूण णियप्पसहावे अंतोमुहुत्तकालेण जदा थिरत्तं पावेदि तदा उत्तमसुक्कझाणबलेण केवलणाणमुप्पज्जिय **णिव्वाणं** सिद्धसुहं लहइ ।

उत्थानिका—अह एवंविहाब्भुदयसहिदणिव्वाणकारणं जिणवयणमत्थि तस्स पसंसणट्ठमाह—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं ।

जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥17॥

रत्नत्रय का धारक पुण्य-पाप की क्रियाओं में राग को छोड़कर के सभी कर्म और नोकर्म से विमुक्त आत्मा के शीलस्वभाव में लीन होता है, कहा भी है—

जिस प्रकार कोई पुरुष कुत्सित और शीलस्वभाव इन दोनों को जान करके कुत्सित स्वभाव को छोड़ देता है, उसका त्याग कर देता है और स्वभाव में रत होकर के शील स्वभाव का संसर्ग करता है, जैसे लोक में यह देखा जाता है उसी प्रकार से पुण्य और पाप दोनों में संसर्ग को छोड़ करके श्रमण स्वभाव में रत होता है ।

वह जीव ही जब तक **सीलफलेण** निज आत्म स्वभाव में स्थिरता को प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक धर्म और शुक्लध्यान के बल से मरण करके **अब्भुदयं** वैमानिक देव, चक्रवर्ती आदि के सुखों को **लहइ** प्राप्त करता है । **तत्तो पुण** बाद में वह वीतराग होव निज आत्म स्वभाव में अंतर्मुहूर्तकाल के द्वारा जब स्थिरता को प्राप्त कर लेता है तब उत्तम शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञान को उत्पन्न करके **णिव्वाणं** अर्थात् सिद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है ॥16॥

उत्थानिका—अब इस प्रकार के अभ्युदय के साथ निर्वाण के कारणभूत जिनेन्द्र भगवान् के वचन हैं उन्हीं वचनों की प्रशंसा के लिए यहाँ कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इणं) यह (जिणवयणमोसहं) जिनवचन रूपी औषधि (विसयसुहविरेयणं) विषय सुख का विरेचन करने वाली है (अमिद भूयं) अमृतरूप है, (जरमरणवाहिहरणं) जरा

पीयूष है विषय सौख्य विरेचना है, पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है ।

भाई जरा-मरण-रोग विनाशती है, संजीवनी सुखकरी जिनभारती है ॥17॥

टीका—जिणवयणमोसहमिणं इणं पच्चक्खीभूदं संपहि उवलद्धसुदणाणं जिणवयणं ओसहं इव। किं विसिट्ठं ? **विसयसुहविरेयणं** जहा ओसहं पुव्वज्जिदकोट्टमलस्स विरेयणं कुणदि तहा जिणवयणसेवणेण विसयसुहस्स विरेयणं विसयेसु सुहमत्थि ति बुद्धी विगलदि। सणियं सणियं विसयासत्तियभावादो तिण्हाजणिददुक्खतावो उवसमदि। जदुत्तं—

“जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।” प्रवचनसार 64

पुणो वि किं विसिट्ठं ? **अमिदभूयं** अमिदमिव सुहकरणं। जिणवयणं विसयसुहविरत्तिसमए अप्पं कडुयं भासदि पच्छा अमियभूदं अणुभवं देदि। वुत्तं च—मुद्धारक्खसणाडये—

सासणमलिहंताणं पडिवज्जह मोहवाहिवेज्जाणं।

जे पढममेत्तकडुअं पच्छा पत्थं उवदिसंति ॥

(4/18)

तहेव जिणवयणं **जरमरणवाहिहरणं** जरा वुड्ढिदसा, मरणं आउअकम्मखओ, उहयं हि जीवस्स वाही तस्स हरणं जेण भवे तं। जिणवयणेणेव सस्सदसोक्खं उववज्जदि। सच्चमेव—

और मरण की व्याधि को हरने वाली है (**सव्वदुक्खाणं**) सब दुःखों का (**खयकरणं**) क्षय करने वाली है।

टीकार्थ—जिणवयणमोसहमिणं यह जिनेन्द्र भगवान् के वचन औषधि के समान हैं, यह प्रत्यक्षभूत होते हुए वर्तमान में उपलब्ध हुआ जो श्रुतज्ञान है वही जिनेन्द्र भगवान् के वचन हैं जो औषधि के समान हैं, वह जिनवचन क्या विशेषता वाले हैं ? **विसयसुह विरेयणं** जिस प्रकार औषधि पूर्व अर्जित कोष्ठमल का विरेचन कर देती है उसी प्रकार से जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के सेवन से विषयसुख का विरेचन होता है अर्थात् विषयों में सुख है इस प्रकार की बुद्धि विगलित हो जाती है, धीरे-धीरे विषयासक्ति का अभाव हो जाने से उस विषयतृष्णा से उत्पन्न हुआ दुःख का ताप भी उपशम को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि कहा है—

जिनके विषयों में रति है उनके अंतरंग में स्वभाव से ही दुःख जानना चाहिए।

पुनः वह जिनवचन किस विशेषता वाले हैं? **अमियभूदं** वह अमृत के समान सुख करने वाले हैं, जिनेन्द्र भगवान् के वचन विषय सुख की विरक्ति के समय पर थोड़े कड़वे मालूम पड़ते हैं बाद में वह अमृत स्वरूप अनुभव में आते हैं।

मुद्दाराक्षस नाटक में कहा भी है— यह अरिहंतों का शासन तुम प्राप्त करो क्योंकि मोहरूपी व्याधि के लिए जिन शासन वैद्य के समान हैं। जिनका उपदेश पहले तो कड़वा लगता है बाद में अच्छा लगता है।

उसी प्रकार से **जरमरणवाहिहरणं** जरा अर्थात् वृद्ध दशा, मरण अर्थात् आयुर्कर्म का क्षय ये

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम्।

तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥

(आत्मानुशासन 46)

तहेव सव्वदुक्खाणं क्षुहापिपासातंकणिद्वासंजोगवियोगपीडाण्णाणदिसदसहस्सदुक्खाणं खयकरणं विणासणं होदि। जदो मूलपच्चयविणासादो तज्जणिदकज्जस्सुवलद्धी वि ण हवे। वुत्तं च सिद्धभत्तीए-

क्षुत्तृष्णाश्वासकासज्वरमरणजरानिष्टयोगप्रमोह

व्यापत्त्याद्युग्रदुःख-प्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्य माता ॥6 ॥

एवंविहसुहं जिणवयणेण जायदि ॥17 ॥

उत्थानिका—अह जिणदंसणे जं लिंगं तेरसमगाहाए परूविदं तमेव अत्थि आहो अण्णं वि त्ति संकाणिरायणट्टमाह-

दोनों ही जीव की व्याधि हैं, इनका हरण जिससे होता है वे जिन वचन हैं। जिनवचन से ही शाश्वत सौख्य की प्राप्ति होती है।

सत्य ही कहा है—“धर्म वह है जहाँ पर अधर्म न हो, सुख वह है जहाँ पर दुःख न हो, ज्ञान वह है जहाँ पर अज्ञान न हो और गति वह है जहाँ पर पुनः आगमन न हो।”

इसी प्रकार से सव्वदुक्खाणं क्षुधा, पिपासा, आतंक, निद्रा, संयोग, वियोग, पीड़ा, अज्ञान आदि लाखों दुःखों का क्षय करने वाले, विनाश करने वाले जिन वचन हैं। मूलप्रत्यय का विनाश हो जाने से उन प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाले कार्य की उपलब्धि नहीं होती है।

जैसे कि सिद्धभक्ति में कहा है-

क्षुधा, तृष्णा, श्वास, कास, ज्वर, मरण, जरा, अनिष्ट-योग, प्रमोह व्यापत्ति आदि उग्र दुःखों से उत्पन्न होने वाले संसार का विनाश हो जाने से उस सुख को जानने वाला कौन हो सकता है ? अर्थात् सिद्ध भगवान् के सुख को कोई नहीं जान सकता है ॥16 ॥ ऐसा सुख जिनेन्द्र भगवान् के वचनों से प्राप्त होता है ॥17 ॥

उत्थानिका—अब जिन दर्शन में जो लिंग 13वीं गाथा में कहा था वह लिंग वही है अथवा अन्य भी है इस प्रकार की शंका का निराकरण करने के लिए यहाँ कहते हैं-

अन्वयार्थ—(एगं जिणस्स रूवं) एक जिनेन्द्र भगवान् का रूप (बीयं) दूसरा (उक्किट्टु-सावयाणं) उत्कृष्ट श्रावकों का (ऐलक, क्षुल्लक) (तु) और (तइयं) तृतीय (अवरट्टियाण)

एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्टुसावयाणं तु।
अवरट्टियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥18 ॥

टीका—एगं लिंगं तु जिणस्स रूवं ‘दुविहं पि गंथचाए’ इदि गाहाकहिदलक्खणं। बीयं विदियं लिंगं उक्किट्टुसावयाणं दंसणपडिमाप्पहुडि एयारसपडिमावंता सावया जहण्णमज्झिमुक्कट्टु-भेएण तिविहा होंति। तेसु पढमपडिमादो छट्ठपडिमापरियंता जहण्णसावया। सत्तमपडिमादो णवमपडिमापज्जंता मज्झिमसावया। दसमेयारसपडिमाधारगा उक्किट्टुसावया। तेसु वि एत्थ एयारसमपडिमाधारगाणं उक्किट्टुसावयाणं गहणं कादव्वं गिहपरिच्चागदाए जिणरूवधारगेहिं सह णिवसण-णियमादो। तइयं अवरट्टियाण लिंगं उक्किट्टुसावयलिंगं मोत्तूण जे सेसा अवसिट्ठा तेसिं णादव्वं। पुण चउत्थं लिंगदंसणं णत्थि वुत्ततिविहलिंगादो अण्णस्स लिंगस्स दंसणं ण होदि। अहवा ‘दंसणं’ ति ठाणे ‘दंसणे’ एवं पढिदव्वं। तेण दंसणे जिणदंसणे जिणमदम्मि चउत्थं लिंगं णत्थि ति भावत्थो ॥18 ॥

अपर स्थान में स्थितों का (पुण) उसके बाद (चउत्थं लिंग) चौथा लिंग (दंसणं णत्थि) जिनदर्शन में नहीं है।

टीकार्थ—एगं एक लिंग तो जिणस्स रूवं जिनेन्द्र भगवान् का रूप है दुविहं पि गंथचाए इस प्रकार 14 वीं गाथा में कहे हुए लक्षण वाला पहला जिन लिंग है बीयं दूसरा लिंग उक्किट्टुसावयाणं उत्कृष्ट श्रावकों का है। दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमा वाले श्रावक हैं। ये श्रावक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। उनमें प्रथम प्रतिमा से लेकर छटवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक कहलाते हैं। सातवीं प्रतिमा से नवमी प्रतिमा तक मध्यम श्रावक कहलाते हैं। दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक उत्कृष्ट श्रावक होते हैं। उनमें भी यहाँ पर ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक उत्कृष्ट श्रावकों का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि गृह का परित्याग होने से जिन रूप धारण करने वालों के साथ निवास करने का नियम उन्हीं के लिए देखा जाता है तइयं अवरट्टियाणं तीसरा लिंग अवर स्थान वालों का है। उत्कृष्ट श्रावकों के लिंग को छोड़ करके जो शेष अवशिष्ट हैं वे अपर, अन्य हैं। उनका वह तृतीय लिंग जानना चाहिए। पुण चउत्थं लिंगदंसणं णत्थि अर्थात् इस प्रकार कहे गए इन तीन प्रकार के लिंगों से अन्य लिंग का दर्शन नहीं होता है अर्थात् चौथा कोई भी लिंग नहीं है अथवा दंसणं इस स्थान पर दंसणे इस प्रकार से पढ़ना चाहिए। जिससे यह अर्थ निकलता है कि दर्शन अर्थात् जिनदर्शन में या जिनमत में चौथा लिंग नहीं है, यह भावार्थ है ॥18 ॥

है आद्य लिंग जिन-लिंग असंग भाता, दूजा सुक्षुल्लक व ऐलक का कहाता।
है आर्यिका पद तृतीय जिनेश गाया, चौथा न लिंग जिनदर्शन में बताया ॥18 ॥

उत्थानिका—अह एवंविहलिंगधराणं समणसावयाणं सम्मइंसणं केण कारणेण होदि त्ति वुच्चदे—

**छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्धिद्वि ।
सइहइ ताण रूवं सो सद्धिद्वी मुणेयव्वो ॥19॥**

टीका—छह दव्व जीवपोग्गलधम्माधम्मायासकालणामाईं चयेणाचेयणगइद्धिदिपरिणदि— अवगाहवट्टणलक्खणाईं एयायासखेत्ते वट्टमाणा वि सगसहावमजहंता संकरादिदोसरहिदेण लोए चिट्ठंति ।

णव पयत्था जीवाजीवासवबंधसंवरणिज्जरामोक्खपुण्णपावसरूवेण जहा जिणवरेहिं व्यवहारणिच्छयणएण अविरोहेण णिद्धिद्वि परूविदा तहा ।

पंचत्थी कालदव्ववज्जियं पंचदव्वाणि पंचत्थिकाएण णिद्धिद्वि ।

उत्थानिका—अब इस प्रकार के लिंग धारण करने वाले श्रमण और श्रावकों का सम्यग्दर्शन किस कारण से होता है यह कहते हैं—

अन्वयार्थ— (छह दव्व) छह द्रव्य (णवपयत्था) नव पदार्थ (पंचत्थी) पंचास्तिकाय (सत्त तच्च) सात तत्त्व (णिद्धिद्वि) निर्दिष्ट हैं (ताण) उनके (रूवं) रूप को (सइहइ) श्रद्धान करता है (सो) वह (सद्धिद्वी) सम्यग्दृष्टि (मुणेयव्वो) जानना चाहिए ।

टीकार्थ—छह दव्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम वाले चेतन, अचेतन, गति, स्थिति, परिणति, अवगाहन और वर्तना लक्षण वाले इन छह द्रव्यों का एक आकाश क्षेत्र में वर्तमान होते हुए भी स्व स्वभाव को नहीं छोड़ते हुए लोक में संकर आदि दोषों से रहित रहते हैं । **णव पयत्था** जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप के स्वरूप को जैसा जिनवर भगवान् ने व्यवहार और निश्चयनय के द्वारा बिना किसी विरोध के नौ पदार्थों का स्वरूप प्ररूपित किया है उसी प्रकार से जानना । **पंचत्थी** कालद्रव्य को छोड़कर के पाँच द्रव्य, पाँच अस्तिकाय रूप से कहे गए हैं । **सत्त तच्च** पुण्य और पाप तत्त्व को छोड़कर सात तत्त्व कहे जाते हैं । **ताण रूपं** उनके स्वरूप को जो 'तत्त्वार्थ सूत्र' इत्यादि ग्रन्थों में प्ररूपित किया है उसी प्रकार से जानना चाहिए, उसी प्रकार से उनका **सइहइ** जो श्रद्धान करता है, सम्यक्त्व गुण से वह अपनी आत्मा को समीचीन रूप से परिणमन करा लेता है **सो सद्धिद्वी मुणेयव्वो** वही सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ॥19॥

पंचास्तिकाय छह-द्रव्य पदार्थ-नौ हो, जीवादि-तत्त्व पुनि सात यथार्थ औ हो ।

श्रद्धान भव्य इन ऊपर है जमाता, मानो उसे तुम सुदृष्टि वही कहाता ॥19॥

सत्त तच्च पुण्णपावतच्चवज्जं सत्त तच्चाणि वुच्चंति । ताण रूवं जं 'तत्त्वार्थसूत्रम्' इदि गंथे परूविदं तहेव णायव्वं तहेव जो सद्दहइ सम्मत्तगुणेण अप्पाणं सम्मं परिणमइ सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥19॥

उत्थानिका—अह उहयणएण सम्मद्दंसणस्स वक्खाणं कीरदे—

जीवादी - सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।

ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥20॥

टीका—ववहारा ववहारणएण जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं त्ति तहेव णिच्छयदो णिच्छयणएण अप्पाणं अप्पा एव सम्मत्तं हवइ त्ति जिणवरेहिं दुविहं ववहारणिच्छयसम्मत्तं पण्णत्तं ।

तत्थ अपमत्तो होदूण वीयरायणिव्वियप्पससंवेदनकाले जीवो जदा वीयरायचारित्ताविणाभूद— वीयरायसम्मत्तेण अप्पाणमेव सद्दहदि तदा सो णिच्छयसम्मादिट्ठी तक्काले अप्पाणमेव जाणदि तदा सो णिच्छयसम्मण्णाणी तक्काले अप्पाणमेव अणुहवदि तदा सो णिच्छयसम्मचारित्तो होदि । तस्साहावे

उत्थानिका—अब दोनों नयों के द्वारा सम्यग्दर्शन का व्याख्यान करते हैं—

अन्वयार्थ— (जीवादीसद्दहणं) जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान करना (ववहारा सम्मत्तं हवइ) व्यवहार सम्यग्दर्शन है (अप्पाणं) आत्मा का श्रद्धान करना (णिच्छयदो सम्मत्तं) निश्चय सम्यग्दर्शन है (जिणवरेहिं पण्णत्तं) ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।

टीकार्थ—ववहारा अर्थात् व्यवहारनय से जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जीवादि का श्रद्धान सम्यक्त्व है, इसी प्रकार से णिच्छयदो अर्थात् निश्चयनय से अप्पाणं अर्थात् आत्मा ही सम्मत्तं हवइ सम्यक्त्व होता है ऐसा जिणवरेहिं जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा दो प्रकार से व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन का पण्णत्तं कथन किया गया है । उसमें अप्रमत्त होकर के वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन काल में जीव जब वीतरागचारित्र के अविनाभूत वीतरागसम्यक्त्व के साथ अपनी आत्मा का ही श्रद्धान करता है तब वह निश्चय सम्यग्दृष्टि होता है । उस काल में अपनी आत्मा को ही जानता तभी वह निश्चय सम्यग्ज्ञानी होता है । उस काल में आत्मा का ही अनुभव करता है, तभी वह निश्चय सम्यक्चारित्री होता है । उस निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का अभाव होने पर अप्रमत्त संयत, प्रमत्त संयत, देश संयत के विषयभूत तीनों गुणस्थानों में व्यवहार सम्यग्दृष्टि, व्यवहार सम्यग्ज्ञानी और सकल तथा एकदेश रूप से व्यवहार सम्यक्त्व चारित्र वाला होता है । इस परिणति का अभाव होने पर भी पुनः चतुर्थ गुणस्थान में व्यवहार सम्यग्दृष्टि और व्यवहार सम्यग्ज्ञानी होता है । इस

तत्त्वार्थ में रुचि भली भव-सिन्धु सेतु, सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू ।

सम्यक्त्व निश्चयतया निज-आत्मा ही, ऐसा जिनेश कहते शिवराह-राही ॥20॥

अपमत्तपमत्तदेससंजमविसयभूदेसु तिसु गुणट्टाणेषु ववहारसम्मादिट्ठी ववहारसम्मणाणी सयलेगदेसेण ववहारसम्मचारित्तो होदि । तस्साहावे पुण चउत्थगुणट्टाणे ववहारसम्मादिट्ठी ववहारसम्मणाणी होदि । एवं णिच्छयववहारमोक्खमग्गस्स सरूवं मुखगोणेण णादव्वं । ववहारसम्मादिट्ठी णवपदत्थगदसङ्गहणं मुखेण कुणदि णिच्छयगदप्परुइमेत्तसङ्गहणं दु गोणेण वट्टदे सुद्धबुद्धेगाखण्डसहावाप्पियप्पणो अणुहवाहावादो । णिच्छयसम्मादिट्ठी पुण सुद्धबुद्धेगाखण्डसहावाप्पियाप्पणो अणुहवं मुखेण कुणदि णवपदत्थगदसङ्गहणस्स गोणप्पसंगादो ॥20॥

उत्थानिका—अह रयणत्तयेसु दंसणरयणं सारमिदि वण्णेदि—

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।

सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥21॥

टीका—एवं ववहारणिच्छयसरूवेण जिणपण्णत्तं जिणेहिं पण्णत्तं भणिदं दंसणरयणं सम्मद्वंसं रयणं व भावेण धरेह तुम्हे त्ति भावत्थो । ववहारसम्मदंसणस्स विसयभूदे छदव्वणवपदत्थे मोक्खट्ठं

प्रकार निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप मुख्य और गौण रूप से जानना चाहिए। व्यवहार सम्यग्दृष्टि नौ पदार्थ गत श्रद्धान को मुख्यता अपनी ओर से करता है और निश्चय गत आत्मा की रुचि मात्र का श्रद्धान उसके गौण रूप से होता है क्योंकि शुद्ध बुद्ध एक अखण्ड स्वभाव की मुख्यता आपनी आत्मा का अनुभवन उसके नहीं होता है। निश्चय सम्यग्दृष्टि तो शुद्ध बुद्ध एक अखण्ड स्वभाव की मुख्यतावाले अपने आत्मा का अनुभव ही मुख्य रूप से करता है और नौ पदार्थगत श्रद्धान का प्रसंग ही उसके लिए गौण होता है ॥20॥

उत्थानिका—अब इन रत्नत्रयों में दर्शन रूपी रत्न ही सार है इस प्रकार का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (जिणपण्णत्तं) जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ (दंसणरयणं) सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को (भावेण) भाव से (धरेह) धारण करो (गुणरयणत्तय सारं) [वह] सम्यग्दर्शन गुण रत्नत्रय का सार (मोक्खस्स) मोक्ष की (पढम) प्रथम (सोवाणं) सीढ़ी है।

टीकार्थ—एवं व्यवहार और निश्चय के स्वरूप से जिणपण्णत्तं जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ दंसणरयणं सम्यग्दर्शन रत्न के समान है भावेण धरेह इसलिए तुम इसको भावों से धारण करो यह भावार्थ है। व्यवहार सम्यग्दर्शन के विषयभूत छह द्रव्य और नौ पदार्थों को मोक्ष के लिए भावों से उनका निश्चय तब तक करना चाहिए जब तक कि निश्चय सम्यग्दर्शन के विषयभूत ध्यान काल में आत्मा का अवलोकन पर द्रव्यों से भिन्न शुद्ध ज्ञान घन का अनुभवन न हो जाए। उस निश्चय सम्यग्दर्शन के विषयभूत परिणति के लिए नौ पदार्थगत उपयोग को छोड़कर शुद्धात्म ध्यान

सोपान जो प्रथम शाश्वत मोक्ष का है, है सार रत्न-त्रय में गुण योग का है।

सम्यक्त्व रत्न वह है जिनदेव गाते, धारो उसे हृदय में अविलंब तातें ॥21॥

भावेण ताव पच्चवट्टेयं जाव णिच्छयसम्मदंसणस्स विसयभूदे ज्ञाणकाले अप्पावलोयणं परदव्वेहिं वदिरित्तं सुद्धणाणघणस्साणुभवनं ण हवे । तदट्ठं णवपदत्थगदमुवओगं मोत्तूण सुद्धप्पज्झाणभावणा पुणो पुणो ववहारसम्मादिट्ठीहिं कादव्वा जदो हि सो णिच्छयसम्मदंसणस्स विसयभूदं सुद्धप्पं सद्धहदि जाणादि य किंतु णाणुहवदि । ववहारसम्मदंसणस्स भावणा खलु एवं कादव्वा-

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।

आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥

तथैव-

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये

धामोद्दाम - महस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।

दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं

वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥

(समयसार कलश 24)

की भावना पुनः-पुनः व्यवहार सम्यग्दृष्टि के द्वारा की जानी चाहिए क्योंकि व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय सम्यग्दर्शन के विषयभूत शुद्धात्मा का श्रद्धान करता है और उसे जानता है किन्तु उसका अनुभवन नहीं करता है । व्यवहार सम्यग्दर्शन की भावना इस प्रकार करनी चाहिए-

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ तत्त्व सूक्ष्म है जो किसी भी हेतुओं के द्वारा घात को प्राप्त नहीं होता है, इसलिए वे सभी तत्त्व हमें आज्ञा से सिद्ध हैं और हमें ग्रहण करने योग्य हैं क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते हैं अर्थात् वह कभी भी मिथ्या नहीं बोलते हैं ।

इसी प्रकार से-जिन्होंने अपनी कांति से दशों दिशाओं को नहला दिया है और अपने तेज से जिन्होंने उत्कृष्ट तेज वाले पदार्थों के भी प्रकाश को रोक दिया है तथा जो अपने रूप से भी सभी जनों के मन को चुरा लेते हैं, जिनकी दिव्यध्वनि के द्वारा साक्षात् कानों में अमृत झरता है ऐसे 1008 लक्षण को धारण करने वाले तीर्थंकर सूरि सदा वंदनीय हैं ।

अब निश्चय सम्यग्दर्शन की भावना इस प्रकार करनी चाहिए -

“अयि कथमपि” इस प्रकार श्लोक का अर्थ-“अरे! किसी भी प्रकार से मर करके भी तत्त्व में कौतूहल उत्पन्न करते हुए शरीर के पास रहने वाले तत्त्व का अनुभव करो, एक मुहूर्त तक अपने शरीर से भिन्न इस आत्मा को देखते हुए उसका आलोकन करके तुम शीघ्र ही इस मूर्तिक शरीर से एकत्वरूप मोह को छोड़ दो ।”

इसी तरह से निश्चय सम्यग्दर्शन की भावना के लिए और भी कहा है- शुद्धनय से आत्मा एकत्व में नियत है, व्याप्त है, पूर्णज्ञान घन स्वभाव वाला है, उसका दर्शन ही अन्य सभी द्रव्यों से

णिच्छयसम्मद्वंसणस्स भावणा खलु एवं कादव्वा-

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

(समयसार कलश 23)

तथैव- एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नव तत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥

(समयसार कलश 6)

गुणरयणत्तय पागदलक्खणबलेण विहत्तिलोवो। गुणरयणत्तयस्स सारं दंसणरयणमेव। गुणेसु रयणत्तयं हि पमुहगुणा तेसु वि सारं सव्वुक्कट्ठं सम्मद्वंसणमेव। जदो ववहारसम्मत्तेण विणा णाणं सम्मण्णाणं चरित्तं सम्मचरित्तं ति सम्मववदेसं ण लहदि। तहेव-**मोक्खस्स** सव्वकम्मणोकम्मरहिदाप्पणो सरूवस्स **पढम सोवाणं** मोक्खपासादस्स पढमा अहिरोहिणी। तत्तो मोक्खमग्गस्स पारंभो होदि जो अणेयविहमूलोत्तरगुणगमणसोवाणेहि मोक्खे पविसदि ति भावत्थो ॥21॥

पृथक् होकर करना सम्यग्दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन ही नियम से आत्मा है जितना सम्यग्दर्शन है वही उतना ही आत्मा है, उस सम्यग्दर्शन को छोड़ करके नव पदार्थों की यह संतति मेरे लिये न होवे। **गुणरयणत्तय** प्राकृत लक्षण के कारण से यहाँ विभक्ति का लोप हुआ है अर्थात् गुणरूपी रत्नत्रयों का सार दर्शनरूपी रत्न ही है। तात्पर्य यह है कि गुणरूपी रत्नत्रय का **सारं** अर्थात् दर्शनरूप रत्न ही सार है। गुणों में रत्नत्रय ही प्रमुख गुण है, उनमें भी सारभूत सर्वोत्कृष्ट सम्यग्दर्शन ही है क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र इस प्रकार सम्यक् व्यपदेश को प्राप्त नहीं करता है। इस प्रकार से **तहेव मोक्खस्स** अर्थात् सभी कर्म और नौकर्मों से रहित आत्मा के स्वरूप का **पढम सोवाणं** मोक्षरूपी महल का यह प्रथम सोपान है अर्थात् सीढ़ी है इससे ही मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है जो अनेक प्रकार के मूलोत्तर गुणों में गमन करने रूप सोपान के द्वारा मोक्ष में प्रवेश कराता है यह भावार्थ है ॥21॥

उत्थानिका—अब अति उत्तुंग मोक्ष के प्रासाद में प्रवेश करने के लिए गमन शक्ति का अभाव

उत्थानिका—अह अइउत्तुंगमोक्खपासादे पवेसेदुं गमणसत्तीए अहावे किं कादव्वमिदि भणदि—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं ।

केवल्लिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥22 ॥

टीका—जं सक्कइ तं कीरइ—जं किरियाणुट्ठाणं कादुं सक्कइ तं अवस्सं करिज्ज । जं च ण सक्कइ कादुं तं च सद्दहणं अण्णहा ण वत्तव्वमिदि । अहो परदव्वेहिं पुधभूदसुद्धप्पाणुभूदी सुद्धणयस्सुदएणेव होदि । सुद्धणयस्सुदओ सव्ववियप्परहिदप्पमेत्तज्झाणकाले णिच्छयसम्मद्वंसणेण होदि । णिच्छयसम्मद्वंसणं णिच्छयचारित्तेण विणा ण होदि । णिच्छयचारित्तं ववहारचारित्तेण विणा ण होदि । ववहारचारित्तं ववहारसम्मत्तपुव्वियं अट्ठावीसमूलगुणपालणेण विणा ण होदि । मूलगुणाणं पालणं जिणदिक्खाए विणा ण होदि । जिणदिक्खा गिहवावारमित्तपरिवारमणुण्णपदत्थरागसामग्गीवेर—कोहादिभावपरिच्चयणं विणा ण होदि ।

एवंविहा दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा जो ण कादुं सक्कज्जदि तस्स सद्दहमाणस्स वि सम्मत्तं होदि त्ति केवल्लिजिणेहिं भणियं ॥22 ॥

होने पर क्या करना चाहिए ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जं) जो (सक्कइ) कर सकते हैं (तं) उसको (कीरइ) करना चाहिए (जं च) और जिसको (ण सक्केइ) नहीं कर सकते (तं च सद्दहणं) उसको श्रद्धान करो (केवल्लिजिणेहिं) केवली जिनों के द्वारा (सद्दहमाणस्स) श्रद्धान करने वाले के लिए (सम्मत्तं) सम्यक्त्व (भणियं) कहा गया है ।

टीकार्थ—जं सक्कइ तं कीरइ जो क्रिया अनुष्ठान करने में शक्य है उसे अवश्य करना चाहिए । जं च ण सक्कइ और जो करने में शक्य नहीं है तं च सद्दहणं उसका श्रद्धान करना चाहिए किन्तु अन्यथा नहीं कहना चाहिए यह तात्पर्य है । अहो ! परद्रव्यों से पृथग्भूत शुद्धआत्मा की अनुभूति शुद्धनय के उदय से ही होती है, शुद्धनय का उदय सभी प्रकार के विकल्पों से रहित आत्मा मात्र के ध्यानकाल में निश्चयसम्यग्दर्शन के द्वारा होता है । निश्चयसम्यग्दर्शन निश्चयचारित्र के बिना नहीं होता है । निश्चयचारित्र, व्यवहारचारित्र के बिना नहीं होता है व्यवहारचारित्र व्यवहारसम्यक्त्व पूर्वक 28 मूलगुणों के पालन किये बिना नहीं होता है । मूलगुणों का पालन जिन दीक्षा के बिना नहीं होता है, जिनदीक्षा गृह, व्यापार, मित्र, परिवार, मनोज्ञ पदार्थ राग की सामग्री, वैर, क्रोधादि भावों का परित्याग किये बिना नहीं होती है ।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना जो करने के लिए समर्थ नहीं है उसका

जो भी बने प्रथम चारित धार लेना, श्रद्धान शेष व्रत पे फिर धार लेना ।

श्रद्धान ईदृश किया उस भव्य में है, सम्यक्त्व यों जिन कहें निज द्रव्य में है ॥22 ॥

उत्थानिका—अह गुणवंतजणेहिं के जणा वंदणीया त्ति भणदि—

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था ।

एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥23 ॥

टीका—एदे जे दंसणणाणचरित्ते णिच्चकालसुपसत्था अपसत्थभावं मोत्तूण णिच्चं अइउच्छाहेण पसत्थभावेहिं सम्मद्वंसणणाणचरित्ताणमाराहगा होंति । सो खलु आराहगो णिस्संकिद— णिकंखिद—णिब्बिदुगुंछा—अमूढद्विट्ठि—उवगूहण—ठिदिकरण—वच्छलत्त—पहावणासहिदट्ठंगेहिं णिच्चं सम्मद्वंसणमणुपालेदि । अत्थायार—विंजणायार—उहयायार—कालायारोवहाणायार—विणयायार—बहुमाणायार—अणिण्हवणायारभेएण अट्ठविहणाणायारमणुपालेदि । पंचमहव्वदपंचसमिदि—तिगुत्तिभेएण तेरसविहचरित्तायारमणुपालेदि ।

तवविणये वि णिच्चकालं सुपसत्था होंति । बारसविहं तवोकम्मं चउव्विहं दंसणणाण—चरित्तोवयारभेएण विणयं च धरंति **जे गुणधराणं गुणवादी** ‘दोषवादे च मौनम्’ इदि भावाणुसारेण

सददहमाणस्स वि श्रद्धान करने वाले को भी **सम्मत्तं** सम्यग्दर्शन होता है, इस प्रकार **केवलजिणेहिं भणियं** केवली भगवान् के द्वारा कहा गया है ॥22 ॥

उत्थानिका—अब गुणवान् जनों के द्वारा कैसे मनुष्य वंदनीय है ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जे) जो (दंसणणाणचरित्ते) दर्शन, ज्ञान और चारित्र में (तवविणये) तप और विनय में (णिच्चकाल) नित्य काल (सुपसत्था) सुप्रशस्त अर्थात् लीन रहते हैं (गुणधराणं) गुणधारकों का (गुणवादी) गुणगान करते हैं (एदे) वे (दु) तो (वंदणीया) वंदनीय हैं ।

टीकार्थ—एदे जो दंसणणाणचरित्ते दर्शन ज्ञान और चारित्र में णिच्चकालसुपसत्था अप्रशस्त भावों को छोड़ करके नित्य ही अति उत्साह के साथ प्रशस्त भावों के द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के आराधक होते हैं वह आराधक ही निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना सहित आठ अंगों से सहित नित्य ही सम्यग्दर्शन का अनुपालन करते हैं । अर्थाचार, व्यंजनाचार, उभयाचार, कालाचार, उपधानाचार, विनयाचार, बहुमानाचार और अनिह्वाचार के भेद से आठ प्रकार के ज्ञानाचार का पालन करते हैं । 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति के भेद से 13 प्रकार के चारित्र का पालन करते हैं ।

तवविणये और जो तप विनय में भी नित्य काल सुप्रशस्त होते हैं अर्थात् 12 प्रकार के तपः कर्म को दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार के भेद से 4 प्रकार की विनय को धारण करते हैं । **जे य गुणधराणं गुणवादी** जो गुणों का धारण करने वालों के गुणों का कथन करते हैं और “दोषवादे

चारित्र ज्ञान सम-दर्शन-लीन, त्यागी, तल्लीन है नियम में तप में विरागी ।

साधू करें सुगुण-गान गुणी-जनों का, वे वन्द्य हैं कथन यों जगदीश्वरों का ॥23 ॥

सदा चउव्विहाराहणासंजुत्ताणं गुणवण्णणं कुव्वंति, ण कया वि मच्छरेण णिंदंति ते दु वंदणीया समणा गुणवंतजणेहिं वि किमण्णेसिं वत्ता ॥23॥

उत्थानिका—अह जे पुव्वुत्तगुणधरे ण वंदंति ते किं भवंति त्ति आह—

सहजुप्पण्णं रूवं ददुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।

सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥24॥

टीका—जो कोई समणो सावओ अज्जिआ वा सहजुप्पण्णं रूवं णिगंथलिंगं अण्हाणा-चेलत्तकेसलुंचियादिबहिरगुणेण णिव्वियारं मुच्छाकामलोगकित्तिवंचामच्छरादिअब्भंतरदोसेण वि णिव्वियारं तं ददुं जो ण मण्णए—इमो ण सम्मादिट्ठी, अज्जकाले भावलिंगी मुणी णत्थि, को वि मूलगुणपालगो ण होदि, सव्वे उड्ढिं आहरंति, अप्पसरूवमयाणंता ते सग्गे सुहं हि पावंति, “ववहारधम्मणुरत्ता अण्णाणिणो सव्वे” इच्चादिअणेयविचारेहिं तं ण मण्णदि तहेव एदे अस्स

च मौनं” इस वाक्य के अनुसार दोष कहने में मौन रहते हैं। सदा चार प्रकार की आराधना करने वालों के गुणों का वर्णन करते हैं। उनकी मात्सर्य से कभी भी निन्दा नहीं करते हैं। वे दु वंदणीया श्रमण गुणवान् श्रमणों के द्वारा भी वंदनीय है। अन्यो की क्या वार्ता करना ॥23॥

उत्थानिका—अब जो इन पूर्वोक्त कहे हुए गुणों को धारण करने वाले श्रमण की वंदना नहीं करते हैं वे क्या होते हैं यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो (मच्छरिओ) मात्सर्य भाव से (सहजुप्पण्णं रूवं) सहजोत्पन्न रूप-दिगम्बर मुद्रा को (ददुं) देखकर (ण मण्णए) नहीं मानता अथवा उनका आदर नहीं करता है (सो) वह (संजमपडिवण्णो) संयम प्रतिपन्न होते हुए भी (एसो) वह (मिच्छाइट्ठी) मिथ्यादृष्टि (हवइ) होता है।

टीकार्थ—जो अर्थात् कोई श्रमण, श्रावक या आर्यिका सहजुप्पण्णं रूवं निर्ग्रन्थ लिंग सहज उत्पन्न रूप है। अस्नान, अचेलकत्व, केशलुंचन आदि बाहरी गुणों के साथ होने से वह निर्विकार है। मूर्च्छा, काम, लोभ, कीर्ति की वांछा, मात्सर्य आदि अभ्यंतर दोषों से भी वह निर्विकार है ऐसे ददुं जो ण मण्णए उस रूप को देखकर के जो नहीं मानता है अर्थात् यह सम्यग्दृष्टि नहीं है, इस काल में भावलिंगी मुनि नहीं हैं, कोई भी मूलगुणों का पालन करने वाला नहीं होता है, सभी उड्ढि आहार करते हैं, आत्म स्वरूप को नहीं जानते हुए वे स्वर्ग सुख को ही प्राप्त करते हैं, व्यवहार धर्म में अनुरक्त यह सभी अज्ञानी हैं इत्यादि अनेक विचारों के द्वारा उनको नहीं मानता है, इसी प्रकार ये इस आचार्य के शिष्य हैं, ये मेरी परम्परा से प्रतिकूल हैं इत्यादि भावों

निस्संग नग्न मुनि से चिढ़ता सदा है, मात्सर्य भाव उनसे रखता मुधा है।

मिथ्यात्व-मंडित वही मतिमूढ़ मोही, स्वैरी रहा नियम संयम का विरोधी ॥24॥

आइरियस्स सिस्सा, एदे मज्झ परंपरादो पडिगूला इच्चादिभावेहिं तं ण मण्णदि किंतु मच्छरिओ गुणाण दोसी सो संजमपडिवण्णो वि एसो मिच्छाइट्ठी हवइ ॥24 ॥

उत्थानिका—पुणोवि तमेवाह—

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठुण सीलसहियाणं ।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥25 ॥

टीका—रूवं जिणरूवं णिगंथलिंगं । अमराण वंदियाणं अमराणं भवणवासिवाणवेंतर-जोइसियवेमाणियदेवाणं वंदियाणं पूजियाणं । पुणो वि कहंभूदाणं ? सीलसहियाणं णवकोडिहिं बम्हचेरपालिदाणं सव्वसीलगुणसहिदाणं गणहराणं सजोगाजोगकेवलीणं वा । एवंविह णिगंथं सव्वण्हुपणीदे पवयणे मोक्खमग्गत्तेण परूविदं तेण पावयणं । अम्हादो उत्तरमुक्कट्टं ण किंचि विज्जदि तेण अणुत्तरं । जहा केवलिणो रूवं तहा इमं तेण केवलियं । अजोगकेवलीणं वि णिस्सेसकम्मक्खयत्तेण पडिपुण्णं वुच्चदि । परिपुण्णरयणत्तयणिकायादो होदि तेण णेगाइयं । जेण सव्वसावज्जजोगविरदिलक्खणभूदं तेण सामाइयं । अइयारादिदोसे वि पायच्छित्तादिणा सुद्धं जायदि

से जो उसको नहीं मानता है किन्तु मच्छरिओ अर्थात् गुणों का दोषी हो जाता है सो संजमपडिवण्णो वि एसो मिच्छाइट्ठी हवइ वह संयम को प्राप्त करके भी अर्थात् संयम से संयत होते हुए भी मिथ्यादृष्टि होता है ॥24 ॥

उत्थानिका—पुनः उसी तथ्य को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अमराण) देवों द्वारा भी (वंदियाणं) वन्दनीय (सील सहियाणं) शील से सहित मुनियों के (रूवं दट्ठुण) निर्ग्रन्थ मुद्रा को देखकर (जे) जो (गारवं) गारव अर्थात् अहंकार (करंति य) करते हैं [वे] (सम्मत्तविवज्जिया होंति) सम्यक्त्व से रहित होते हैं ।

टीकार्थ—रूवं अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् का रूप निर्ग्रन्थ लिंग है अमराण वंदियाणं भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों के द्वारा वंदनीय या पूज्यनीय है । पुनः वह रूप कैसा है सीलसहियाणं नौ कोटि से ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों के लिए अथवा सभी प्रकार के शीलगुण से सहित गणधरों का अथवा सयोगी और अयोगी केवलियों का यह रूप है । इस प्रकार के निर्ग्रन्थ रूप को सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहे हुए प्रवचन में मोक्षमार्ग के रूप में प्ररूपित किया है इसलिए यह प्रवचन है । इससे बढ़ करके और उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है इसलिए यह अनुत्तर है । जैसा केवलियों का स्वरूप है, उसी प्रकार से यह निर्ग्रन्थरूप है इसलिए यह केवली कहलाता है, अयोगी केवलियों को भी समस्त कर्मों के क्षय से परिपूर्ण कहा जाता है इसलिए यह निर्ग्रन्थलिंग

शीलादि के सदन है मुनि के गुणों के, जो वन्द्य खेचर नरों असुरों सुरों के ।
ऐसे दिगम्बर जिन्हें लख गर्व धारें, सम्यक्त्व से स्खलित वे नर सर्व सारे ॥25 ॥

तेण संसुद्धं । मिच्छत्तादितिसल्लाणं घट्टणेण गिहीदत्तादो सल्लघत्ताणं लिंगमिणं । ‘सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः’ इदि वयणादो सिद्धिमग्गमिणं । उवसमखवगसेढीए आरोहणमणेणेव तेण सेढिमग्गं । कोहादिविजयादो खंतिमग्गं । सव्वदुक्खेहिं मुत्तीए मग्गादो मुत्तिमग्गं । पगरिसेण मुत्ती एदेणेव तेण पमुत्तिमग्गं । संवरणिज्जरकारणादो मोक्खमग्गं । सिद्धारिहंतदसाए हेदुत्तादो पमोक्खमग्गं । **चउग्गदिजाणादो णिग्गममग्गेण** णिज्जाणमग्गं । णिव्वाणस्स मग्गादो णिव्वाणमग्गं । सारीरिगमाणसियागंतुगादिसव्वदुक्खाण हाणीए मग्गादो सव्वदुक्खपरिहाणि- मग्गं । सुचरियाणामेव परिणिव्वाण-कारणेण सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं । सच्चसरूवादो अवितहं । मोक्खत्थीणं सया आसयभूदत्तादो अविसंति । इमं सक्खादो खलु सव्वणहुपवयणं तेण पवयणं । मोक्खपुरिसत्थस्स कारणादो उत्तमं । एवं पयारेण गणहरदेवेहिं वि संथुदमिणं लिंगं । तं लिंगं **दडूण जे गारवं** महत्ताभिणिवेसं **करंति** । सयं धणविहवादिसत्तिसंपण्णादो इड्ढिगारवेण अणेयविहभोयणरससेवणादो

परिपूर्ण है, परिपूर्ण रत्नत्रय का निकाय होने से यह **नैकायिक** है। चूँकि सभी प्रकार सावद्य योगों की विरति लक्षण वाला निर्ग्रन्थलिंग है, इसलिए यह **सामायिक** है। अतिचार आदि दोषों में भी प्रायश्चित्त आदि के द्वारा शुद्ध किया गया है, इसलिए यह **संशुद्ध** है। मिथ्यात्व आदि तीन शल्यों के विनाश से इसका ग्रहण किया जाता है, इसलिए यह लिंग **सल्लघत्ताण** कहलाता है। “स्वात्मा की उपलब्धि सिद्धि है” इस वचन से सिद्धि का मार्ग होने से यह निर्ग्रन्थ लिंग **सिद्धिमग्ग** कहलाता है। उपशम और क्षपकश्रेणी में आरोहण का मार्ग होने से यह **सेणीमग्ग** कहलाता है। क्रोध आदि की विजय इस लिंग से की जाती है इसलिए यह **खंतिमग्ग** कहलाता है। सभी दुःखों से मुक्ति इस मार्ग से मिलती है इसलिए यह **मुक्तिमग्ग** कहलाता है। प्रकर्ष रूप से मुक्ति इस लिंग के द्वारा होती है इसलिए यह **पमुक्तिमग्ग** है। संवर और निर्जरा का कारण होने से यह **मोक्खमग्ग** है अर्थात् मोक्षमार्ग है। सिद्ध और अरिहंत दशा का हेतु होने से यह **पमोक्खमग्ग** अर्थात् प्रमोक्ष का मार्ग है। चतुर्गति के गमन से निर्गमन का मार्ग होने से यह **णिज्जाणमग्ग** है। निर्वाण का मार्ग होने से यह **णिव्वाणमग्ग** है अर्थात् निर्वाण का मार्ग है। शारीरिक, मानसिक, आगंतुक आदि सभी प्रकार के दुःखों की हानि का मार्ग होने से **सव्वदुक्खपरिहाणिमग्ग** अर्थात् सभी दुःखों की परिहानि का मार्ग है। सुचरित्र वालों के लिए ही **परिणिव्वाण** का कारण होने से **सुचरियपरिणिव्वाणमग्ग** अर्थात् सुचरित्रों के लिए परिनिर्वाण का मार्ग है। सत्य स्वरूप होने से **अवितत्थ** है इसलिए अवितथ कहलाता है। मोक्षार्थियों के लिए सदा आश्रयभूत होने से **अविसंति** कहलाता है। यह साक्षात् सर्वज्ञ भगवान् का प्रवचन होने से यह **प्रवचन** कहलाता है, मोक्षपुरुषार्थ का कारण होने से उत्तम है। इस प्रकार से गणधरदेवों के द्वारा भी इस निर्ग्रन्थमार्ग की और जिनरूप लिंग की स्तुति की गई है। **दडूण** उस लिंग को देखकर के **जे गारवं** अर्थात् महत्त्व का अभिमान करते हैं। स्वयं धन, वैभव आदि की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण ऋद्धिगारव से, अनेक प्रकार के भोजन और रसों का सेवन करने से रसगारव से, वचनों का जन समुदाय में प्रभाव होने से

रसगारवेण वयणाणं सम्मदे पहावादो सङ्गारवेण य तिविहेण पमादादो मदादो अवमण्णंति सम्मत्तविवज्जिया होति ते ॥25॥

उत्थानिका—अह गुणहीणस्स वंदणा ण कायव्वा त्ति गाहाद्वयेण वण्णदि—

असंजदं ण वंदे वत्थविहीणो वि सो ण वंदिज्ज ।

दोण्णि वि होति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥26॥

टीका—असंजणं ण वंदे संजमरहिदस्स सवत्थसाहुस्स वंदणा ण कायव्वा । **वत्थविहीणो वि सो ण वंदिज्ज** जदि वत्थविहीणो बहिरेण दिगंबरो जादरूवधरो हवे किंतु सो बहिरब्भंतर किरियासु संजमेण ण वट्टदि तो वि वंदणिज्जो ण हवे । केण कारणेण ?

दोण्णि वि होति समाणा वत्थसहिदासंजमो वत्थरहिदासंजमो य दोण्णि साहू वंदणकिरियाए अजोग्गा होति । वत्थसहिदो साहू दव्वसंजमं वि विणासेइ तस्स तप्परिग्गहे मुच्छारंभपसंगादो । जदो शब्दगारव से इन तीनों ही प्रकार के गारवों से, प्रमाद से और मद से जो अवमानना करते हैं **सम्मत्तविवज्जिया होति** वे सम्यक्त्व से रहित होते हैं ॥25॥

उत्थानिका—अब गुणहीन की वंदना नहीं करनी चाहिए, इस प्रकार दो गाथाओं के द्वारा वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(असंजदं) असंयमी की (वंदे ण) वंदना नहीं करनी चाहिए (**वत्थविहीणो वि सो**) वस्त्र विहीन होने पर भी वह असंयमी है अतः उसकी भी (**ण वंदिज्ज**) वंदना नहीं करनी चाहिए (**दोण्णि वि**) दोनों ही (**समाणा**) समान (**होति**) होते हैं (**एगो वि**) एक भी (**ण संजदो**) संयमी नहीं (**होदि**) होता ।

टीकार्थ—असंजदं ण वंदे असंयत की वंदना नहीं होती है, संयम से रहित और वस्त्र सहित साधु की वंदना नहीं करनी चाहिए । **वत्थविहीणो वि सो ण वंदिज्ज** यदि वस्त्र से रहित बाहर से दिगम्बर जातरूप को धारण करने वाला हो किन्तु वह बाह्य अभ्यंतर क्रियाओं में संयम से वर्तन नहीं करता है तो भी वह वंदनीय नहीं होता है । किस कारण से? **दोण्णि वि होति समाणा** वस्त्र से सहित असंयम और वस्त्र से रहित असंयम वाला ये दोनों ही साधु वंदना क्रिया के अयोग्य होते हैं वस्त्र से सहित साधु द्रव्य संयम का विनाश करता है क्योंकि उसका उसमें परिग्रह होने पर मूर्च्छा और आरंभ का प्रसंग आ जाता है । चूँकि अंतरंग संयम का घात बाहरी परिग्रह से नियम से होता है ।

कहा भी है—जो परद्रव्य में रत है उसके मूर्च्छा, आरंभ और असंयम क्यों नहीं है ? अर्थात् अवश्य ही है, वह पर द्रव्य में रत हुआ साधु कैसे अपनी आत्मा की सिद्धि करेगा ।

शास्त्रानुसार नहिं केवल वस्त्र त्यागी, वे वन्द्य हैं नहिं असंयत भी सरागी ।

दोनों समान इनमें कुछ भेद ना है, है एक भी नहिं यमी गुरुदेशना है ॥26॥

अंतरंगसंजमस्स घादो बाहिरपरिग्गहेण णियमेण होदि । वुत्तं च—

किध तम्मि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।

तथ परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥

(प्रवचनसार 3/21)

तहेव वत्थरहिदो वि सो साहू असंजदो होदि जो वत्थेण विणा तं अण्णं सव्वं परिग्गहं धरेदि जं मुच्छाए आरंभस्स च कारणं होदि । जे अज्ज वत्थकंबलं तु ण गिण्हंति किंतु तदुद्देसे बहुमुल्ल-कीदाइमिदुघणबाहल्लसहिदकडादिसु चेद्वंति सयंति आवरणेति य । जे य दासीदासवाहणभायण-रयणजणिदसिंहासनरयणपडिमारूपधणदूरसंचारसाहणबहुविहकमंडलुपिच्छिगिचुल्लहत्थपोंछणी-मज्जणीतावणिरोहयसाहणादियं धरंति ते वि ण संजदा होंति णिच्चं तप्परिग्गहचित्ते कम्मबंधकारणभूदासंजम-मुच्छापरिणामाणुसंगादो । **एगो वि ण संजदो होदि ।** असंजमी वत्थसहिदो तहेव वत्थरहिदो असंजदो एगो वि ण संजदो अब्भंतरसंजदरहिदादो । तेणेव ण वंदणिज्जो ॥26 ॥

उत्थानिका—अह गुणविहीणो ण वंदिज्जइ त्ति वण्णेदि—

उसी प्रकार से वस्त्र रहित साधु भी असंयत होता है जो वस्त्र के बिना उस अन्य समस्त परिग्रह को धारण करता है जो मूर्च्छा और आरंभ का कारण होता है । जो आज वस्त्र कंबल तो ग्रहण नहीं करते हैं किन्तु उसके स्थान पर बहुमूल्य खरीदे गए अति मृदु घनीभूत बाहुल्य (लंबाई, चौड़ाई) से सहित कट अर्थात् चटाई आदियों पर चेष्टा करते हैं और उन पर सोते हैं, उनका आवरण करते हैं और जो दासी-दास, वाहन, भाजन, रत्न जड़ित सिंहासन, रत्न प्रतिमा, रजत, धन, दूरसंचार के अनेक साधन, अनेक प्रकार के कमण्डलु, पिच्छिका, अग्नि, चूल्हा, हाथ पोछनी और मार्जनी माने झाड़ू, गर्मी को दूर करने वाले साधन आदि को धारण करते हैं वे भी संयत नहीं होते हैं क्योंकि उनके नित्य ही चित्त में परिग्रह रहता है जिससे कि कर्मबंध के कारणभूत असंयम और मूर्च्छा परिणाम का अनुसंग होता है । **एगो वि ण संजदा होदि** यह भी संयत नहीं है असंयमी जो वस्त्र से सहित है उसी प्रकार से वस्त्र रहित भी असंयत होता है इस प्रकार से ये एक भी संयत नहीं है क्योंकि ये अभ्यंतर संयम से रहित होते हैं इसलिए इनकी वंदना नहीं करनी चाहिए ॥26 ॥

उत्थानिका—अब गुणों से रहित की भी वंदना नहीं करनी चाहिए इस प्रकार से वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(ण वि देहो वंदिज्जइ) न शरीर की वंदना होती है (ण वि य कुलो) और न कुल की (ण वि य जाइसंजुत्तो) न ही जाति से युक्त की (को गुणहीणो वंदमि) कौन

**ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ ॥27 ॥**

टीका—ण वि देहो वंदिज्जइ—जस्स देहो सुंदरो मणोहरो, बलिष्ठो रूवलावणसहिदो सो वि ण पुज्जो देहस्स ओरालियस्स असुइत्तादो । **ण वि य कुलो**—जस्स पिदुपक्खो उच्चवंसो रायमंतादिणा मण्णो अइविहवधणसहिदो सो वि ण वंदिज्जइ कुलस्स देहस्सियत्तादो । **ण वि य जाइसंजुत्तो** जाई माउपक्खो, मज्झ मादुलो इच्चादि उच्चपदारूढो धणवंतो त्ति मण्णइ सो वि ण वंदिज्जइ जाईए वि देहस्सियत्तादो । **को वंदमि गुणहीणो**—जो अप्पणो सम्मत्तणाणसंजमादिगुणेहिं हीणो सो वि ण वंदिज्जइ गुणहीणस्स वंदणाए गुणाहावादो । जो गुणहीणो सो **ण हु सवणो** णिगंथदियंवरसाहू **णेव सावओ** स गिहत्थो **होइ** मूलगुणाहावे तव्ववदेसाणुवलंभादो । णणु च समणदिक्खाए इच्छुगो जणो कुलरूववयोविसिट्ठं होदव्वमिदि वुत्तं जं—“समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं” एत्थ किं पुण तस्स पुज्जाए पडिसेहो, तण्ण; अहिप्पायाणवबोहादो ।

गुणहीन की वंदना करता है? [क्योंकि गुणहीन मनुष्य] (**ण हु सवणो णेव सावओ होइ**) न मुनि है और न श्रावक ही है ।

टीकार्थ—ण वि देहो वंदिज्जइ देह वंदना के योग्य नहीं है । जिसकी देह सुंदर है, मनोहर है, बलिष्ठ है, रूप-लावण्य से सहित है वह भी पूज्य नहीं होता है क्योंकि औदारिक देह तो अशुचिपने को धारण करती है । **ण वि य कुलो** न ही कुल वंदनीय है, जिसका पितृपक्ष उच्चवंश का हो, जो राजा-मंत्री आदि के द्वारा मान्य हो, अति वैभव और धन से सहित हो, वह भी वंदना के योग्य नहीं है क्योंकि कुल भी देह के आश्रित होता है । **ण वि य जाइसंजुत्तो** जाति माता के पक्ष को कहते हैं, मेरे मामा इत्यादि उच्चपद पर आरूढ़ हैं, धनवंत हैं इस प्रकार से जो मानता है वह भी वंदना के योग्य नहीं है क्योंकि जाति भेद भी देह के आश्रित होती है । **को वंदमि गुणहीणो** उन गुणहीनों की कौन वंदना करता है ? जो आत्मा के सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम आदि गुणों से हीन हैं वह भी वंदना के योग्य नहीं हैं क्योंकि गुणहीन की वंदना में गुणों का अभाव होता है । जो गुणों से हीन हैं **ण हु सवणो** वह श्रमण अर्थात् निर्ग्रंथदिगम्बर साधु नहीं हैं **णेव सावओ** और वह सद्गृहस्थ भी नहीं **होइ** होता है क्योंकि मूलगुणों के अभाव में यह श्रमण या साधु इस व्यपदेश को प्राप्त नहीं होता है । **शंका—**श्रमण की दीक्षा के लिए इच्छुक जन तो कुल रूप और वय से विशिष्ट होना चाहिए जैसा कि कहा है—**समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं** अर्थात् वह श्रमण कुल, रूप और

**ये जात-पाँत कुल भी नहिं वन्द्य होते, ना वन्द्य भी तन रहा, गुण वन्द्य होते ।
कोई रहे श्रमण श्रावक निर्गुणी हैं, वे वन्दनीय नहिं हैं कहते गुणी हैं ॥27 ॥**

तत्थ वि कुलरूवादिसहिदस्सेव वंदणा ण कदा किंतु जो कुल रूवादिसहिदेण
णाणदंसणचरित्तववीरियायारं साधेदि सो हि पुज्जो होदि सो हि वंदिज्जइ ॥27॥

उत्थानिका—अह के गुणवंता जेसिं वंदणा कायव्वा त्ति समाह—

वंदामि तवसमण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च ।

सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥28॥

टीका—वंदामि वंदे। कं ? तवसमण्णा जो समणो बहिरंभतरतवसंजुदो तं। जेण मणम्मि
विकप्पकल्लोलमालाणिरोहो हवे, जेण अप्पविसोही वड्ढेज्ज, जेण विसयसुहे अणुरायं हणदि,
जेण सरीरमप्पणो आवरणं व आभासेज्ज तं तवोकम्मं कादव्वं। तं च केसिं अणसणेण केसिं
अवमोदरियेण केसिं रसपरिच्चाएण केसिं ज्ञाणेण केसिं मोणेण केसिं सज्झाएण इच्चादिभेएण

वय से विशिष्ट हो, इष्टतर हो तथा गुणों से सहित हो वही अपने आचार्य से दीक्षा लेवे। फिर यहाँ
पर उसकी पूजा का प्रतिषेध क्यों किया है? **समाधान**—ऐसा नहीं है क्योंकि आपको अभिप्राय का
बोध नहीं हुआ है, उसमें भी कुल, रूप आदि से सहित की ही वंदना नहीं की गई किन्तु जो कुल,
रूप आदि से सहित होकर के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार की साधना करते हैं वही पूज्य
होते हैं और वही वंदना के योग्य होते हैं ऐसा कहा है ॥27॥

उत्थानिका—अब कौन गुणवान् है जिनकी वंदना करनी चाहिए, इस प्रकार पूछने पर उत्तर
देते हैं—

अन्वयार्थ—[मैं] उन मुनियों को नमस्कार करता हूँ (तवसावण्णा) जो तप से सम्पन्न हैं
(सीलं च गुणं च बंभचेरं च) शील से, चौरासी लाख गुणों से और ब्रह्मचर्य से सहित हैं (च
सिद्धिगमणं) और मुक्ति को प्राप्त हैं (तेसिं) उनके लिए (सम्मत्तेण सुद्धभावेण) सम्यक्त्व
तथा शुद्धभाव से (वंदामि) वंदना करता हूँ।

टीकार्थ—वंदामि वंदना करते हैं, किसकी? तवसमण्णा जो श्रमण बहिरंग और अंतरंगतप
से संयुक्त हैं। जिससे मन में विकल्प कल्लोल की माला का निरोध हो जाता है, जिससे आत्म
विशुद्धि बढ़ जाए, जिससे विषयसुख में अनुराग नष्ट होता है, जिससे शरीर आत्मा के आवरण के
समान भाषित होता है वह तपःकर्म करना चाहिए। वह तपःकर्म किन्हीं के लिए अनशन से होता है,
किन्हीं के लिए अवमौदर्य से होता है, किन्हीं के लिए रसपरित्याग से होता है, किन्हीं के लिए ध्यान
से होता है, किन्हीं के लिए मौन से होता है, किन्हीं के लिए स्वाध्याय से होता है इत्यादि भेदों की

जो धारते श्रमणता तपते तपस्वी, हैं शील ब्रह्मगुण से लसते यशस्वी।

श्रद्धाभिभूत वन में शुचि भाव द्वारा, वन्दूँ सुमुक्ति पथ को मुनि को सुचारा ॥28॥

मुक्खगोणेण जे कुणंति ते तवसमण्णा होंति । जेसिं **सीलं** गुणरक्खणट्ठं अट्टारससहस्स सीलभेदं **च गुणं** मूलोत्तरभेयभिण्णं **च बंभचेरं च** मणवचिकाएहि कदकारिदाणुमोदेहिं य इत्थिपुण्वुंसएसु तिरिक्खमणुयदेवेसु रदिसुहाभावो । जेसिं **च सिद्धिगमणं** सया णियसुद्धप्पुवलद्धिसहावपत्तीए उवओगस्स परिणदी **तेसिं** मोक्खगामिसमण्णाणं **सम्मत्तेण** गुणसद्दाए गुणरुइपुव्वियं वा **सुद्धभावेण** णिम्मलमणपरिणामेण तियोगकुडिलदापरिहारेण वा ॥28॥

उत्थानिका—अह तवसीलगुणबंभचेरादिगुणा जेण णिमित्तेण कम्मक्खयकारणं होंति तस्स विवरणं कुणदि—

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो ।

अणुवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खय कारणणिमित्तो ॥29॥

टीका—जो खलु परमारिहंतभडारयो **चउसट्ठिचमरसहिओ** समवसरणे विराजमाणो होदि । एत्थ चमरस्सुवलक्खणं णेयं तेण सिंहासणासोगरुक्खच्छत्तयदेवदुंभुपुप्फवरिसण—

अपेक्षा से मुख्य और गौणरूप से जो तप करते हैं वे सब तप हैं, वे तप श्रामण्य हैं, तपश्रमण हैं। **सीलं च गुणं च** गुणों की रक्षा करने के लिए जो 18 हजार शील के भेद होते हैं और मूल-उत्तरगुणों से भेद भिन्न गुण कहलाते हैं। **बंभचेरं च** मन, वचन, काय के द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना के द्वारा स्त्री, पुरुष और नपुंसकों में तिर्यच, मनुष्य और देवों में रति सुख का अभाव होना ब्रह्मचर्य है। **च सिद्धिगमणं** सदा जिनके लिए निज शुद्धआत्मा की उपलब्धिरूप स्वरूप की प्राप्ति में उपयोग की परिणति होती है **तेसिं** उन मोक्षगामी श्रमणों के लिए **सम्मत्तेण** गुणों की श्रद्धा से अथवा गुणों की रुचि पूर्वक **सुद्धभावेण** अर्थात् निर्मल परिणामों से अथवा तीन योग की कुटिलता का परिहार करके वंदना की जाती है ॥28॥

उत्थानिका—अब तप, शील, गुण और ब्रह्मचर्य आदि गुण जिस निमित्त से कर्म क्षय के कारण होते हैं, उसका विवरण करते हैं—

अन्वयार्थ—[मैं] (**चउसट्ठिचमरसहिओ**) चौंसठ चँवरों से सहित (**चउतीसहि**) चौंतीस (**अइसएहिं**) अतिशयों से (**संजुत्तो**) संयुक्त (**अणुवरबहुसत्तहिओ**) साथ चलने वाले बहु जीवों के हित करने वाले (**कम्मक्खय कारणणिमित्तो**) कर्मक्षय के निमित्त [वंदना करता हूँ] ।

टीकार्थ—जो परम अरिहंत भट्टारक **चउसट्ठिचमर सहिओ** 64 चँवरों से सहित समवसरण में विराजमान होते हैं। यहाँ पर चमर तो उपलक्षण मात्र जानना चाहिए, जिससे सिंहासन, अशोकवृक्ष, छत्रत्रय, देवदुंदुभि, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, भामण्डल सहित अष्ट प्रातिहार्यों का ग्रहण करना चाहिए। **चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो** और जो 34 अतिशयों से संयुक्त हैं उनमें निस्वेदता,

कल्याण में जगत के रत सर्वदा हैं, हो के निमित्त हरते जग आपदा है।

चौंतीस सातिशय चौंसठ चामरों से, शोभें जिनेश नित वन्द्य नरामरों से ॥29॥

दिव्वज्झुणिभामण्डलसहिदट्टपाडिहेराणं गहणं कादव्वं । जो खलु चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो । तेसु णिस्सेदो णिम्मलदा खीररत्तं समचउरस्ससंठाणं वज्जरिसहणारायसंहणणं सुरूवं सुगंधिददेहो सुलक्खणं अप्पडिहदवीरियं पियहिदभासणं एदे दस जम्मणो अइसया । तहेव चउसदकोसपरियंतं सुभिक्षदा गगणे गमणं पाणिवहस्साहावो कवलाहारस्साहावो उवसग्गस्साहावो चउदिसासु चउमुहाणि सव्वविज्जाणमीसरत्तं छायाविहीणदेहो अणिमेसलोयणाणि णहकेसाणं वुड्ढिरहिदत्तं चेदि दसाइसया केवलणाणस्स घादिकम्मक्खएण णादव्वा । तहेव सव्वहियंकरी मागधदेववित्थिण्णा सव्वद्धमागधी भाषा सव्वेसु परोप्परमेत्ती पीदिंकरदेवाइसएण छहउडूणं पुप्फफलाणि एक्ककाले रयणमयी णिम्मला भूमी धूलिकंटककीडादिरहिदा जोयणमेकं भूमी गंधोदगवुट्ठी पादण्णासक्खणे कमलरयणा पादाधो सव्वसस्सपुण्णा भूमी गगणं दिसा य रयधूलिदाहादिरहिदा देवेहि आहाणणं अग्ग अग्ग धम्मचक्कपवट्ठणं अट्टमंगलदव्वाणि अणुगूलपवणवहणं सव्वजीवाणं परमाणंदो चेदि चोइस देवकदाइसया सव्वे मेलिदूण चोत्तीसअइसया होति ।

निर्मलता, क्षीर रक्त, समचतुरस्त्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, सुरूप, सुगंधित देह, सुलक्षण, अप्रतिहतवीर्य, प्रियहित भाषण ये 10 जन्म के अतिशय होते हैं। उसी प्रकार से 400 कोश तक सुभिक्षिता, आकाश में गमन, प्राणिवध का अभाव, कवलाहार का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चारों दिशाओं में चारमुख होना, सभी विद्याओं का स्वामी होना, छाया से रहित देव होना, अनिमेष लोचन, नख केशों की वृद्धि से रहित होना, ये दश अतिशय केवलज्ञान के घाति कर्मों के क्षय से जानना चाहिए। उसी प्रकार से सर्व हित करने वाली मागध देवों के द्वारा विस्तीर्ण हुई सार्वार्धमागधी भाषा, प्रीतिंकरदेव के अतिशय से सभी जीवों में परस्पर मैत्री, 6 ऋतुओं के पुष्प फल एक समय में फलना, रत्नमयी निर्मल भूमि होना, धूलि कंटक कीड़ों आदि से रहित एक योजन की भूमि होना, गंधोदक वृष्टि, पादन्यास के समय पर चरणों के नीचे कमल रचना, सभी प्रकार की फसलों से पूर्ण भूमि, आकाश और दिशा रत्नधूलि यानि रजधूली दाह आदि से रहित होना, देवों के द्वारा बुलाना, आगे-आगे धर्मचक्र का प्रवर्तन होना, अष्ट मंगल द्रव्य, अनुकूल पवन का बहना, सभी जीवों में परम आनंद होना इस तरह से यह देवकृत 14 अतिशय होते हैं। ये सभी मिलकर के 34 अतिशय होते हैं पुनः जो अणुयरबहुसत्तहिओ विहार के समय पर बहुअनुचरों से या सेवकों से या बहुत जीवों से जो देव, मनुष्य आदि होते हैं जो उनके साथ चलते हैं उनका भी जिनसे हित होता है वे अणुयर सत्तहिओ कहलाते हैं। जो इन्द्र आदि देव अनेक प्रकार से अरिहंतदेव की सेवा करते हैं इससे उन इन्द्रादि देवों को ही स्वर्ग और मोक्ष को देने वाली, संसार का नाश करने वाली सिद्धि उत्पन्न होती है।

कहा भी है—हे भगवन्! इन्द्र यदि आपकी सेवा करता है तो इसमें क्या प्रशंसनीय है ?

पुणो वि जो खलु अणुवरबहुसत्तहिओ विहारसमए बहुअणुयरा सेवगा बहुसत्ता बहुजीवा देवमणुवादओ तेहि सह चलंति तेसिं हिदो वि होदि। जे इंदादिदेवा अणेयपयारेण अरिहंतदेवस्स सेवं कुव्वंति तेण तेसिं खलु सग्गमोक्खदायी भवलयकरी सिद्धी जायदि। वुत्तं च—

**इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति ॥**

(एकीभाव स्तोत्र 20)

एवंगुणविसिद्धारिहंतदेवो **कम्मक्खयकारणणिमित्तो** सव्वभव्वजीवाणं होदि तेण तवादिपालणेण सह जिणभत्ती अवस्सं कादव्वा त्ति भावत्थो। दंसणमोहणीयकम्मक्खवणे केवलिपादमूलो णिमित्तकारणेणाब्भुवगदो। कज्जुप्पत्तीए काले हि णिमित्तं मुणेदव्वं ण अण्ण काले त्ति चे; ण; एवं मण्णमाणे कज्जुप्पत्तिकालादो पुव्वं जं परिणाममुववज्जिहिइ तस्स णिमित्तं ण हवेज्ज तेण विणा कधं कज्जदंसणं। जहा सम्मत्तुप्पत्तीए पुव्वं वि अधापवत्तापुव्वकरणाणियट्टिकरणाणि तिण्णि होंति तदा हि अणियट्टियस्संते सम्मत्तस्सुववत्ती। तेण सिज्झदि णिमित्तकारणत्तं कज्जस्सुववत्तीए पुव्वं तक्कालियं पच्छा वा होदि। केसिं कज्जाणमुववत्तियणंतरं वि णिमित्तं तं विसुज्झदि जहा

क्योंकि यह सेवा उसके लिए ही संसार का विनाश करने वाली है इसलिए यह सेवा भी प्रसन्नता को प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार गुणों से विशिष्ट अरिहंतदेव **कम्मक्खयकारणणिमित्तो** सभी भव्य जीवों के लिए कर्म क्षय के कारण में निमित्त होते हैं। इसलिए तप आदि के पालन के साथ में जिनभक्ति अवश्य करना चाहिए, यह यहाँ पर भावार्थ है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने में केवली भगवान् के पादमूल को निमित्त कारणरूप से स्वीकार किया गया है। **प्रश्न**—कार्य की उत्पत्ति के समय काल में निमित्त मानना चाहिए, अन्यकाल में नहीं? **उत्तर**—ऐसा नहीं है इस प्रकार मानने पर तो कार्य की उत्पत्ति के काल से पहले भी जो परिणामों को उत्पन्न करेगा उसके निमित्तपना नहीं होगा इसलिए उन परिणामों के बिना उस कार्य का दर्शन कैसे होगा, जैसे कि सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व भी अधः प्रवृत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीन परिणाम होते हैं तब ही अनिवृत्तिकरण के अंतसमय में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, इससे सिद्ध होता है कि निमित्त कारणपना कार्य की उत्पत्ति के पूर्व में भी होता है, उस काल में भी होता है और बाद में भी होता है। किन्हीं के लिए कार्य की उत्पत्ति के बाद में भी निमित्त उसको विशुद्धि उत्पन्न करता रहता है जैसे कि क्षयोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाद में भी जिनबिम्ब दर्शन, विशुद्धि की उत्पत्ति के कारण होते हैं। कहीं पर **अणवरबहुसत्तहिओ** इस प्रकार का पाठ भी उपलब्ध होता है इससे वह अरिहंत भगवान् निरंतर अनेक जीवों का हित करने वाले होते हैं यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए ॥29॥

उत्थानिका—पूर्व सूत्र में कहे हुए अरिहंतदेव के निमित्त के साथ अन्य भी कारण मोक्ष के

खओवसमसम्मत्तस्स जिणबिंबदंसणादी । कहिं चि अणवरबहुसत्तहिओ त्ति पाठो वि उवलब्भदि तेण सो अरिहो अणवरदं णिरंतरं बहुसत्तहिओ त्ति अत्थो ॥29॥

उत्थानिका—पुव्वुत्तारिहंतदेवस्स णिमित्तेण सह अण्णाणि वि कारणाणि मोक्खणिमित्ताणि त्ति परूवेदि—

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।

चउहिं पि समाजोग्गे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥30॥

टीका—णाणेण पुव्वुत्तारिहंतदेवस्स सद्धहेण सह णाणं सम्मण्णाणं होदि । दंसणमोहस्सुव-समक्खयखओवसमसमुप्पण्णसम्मद्वंसणस्सुववण्णकाले हि सम्मण्णाणुववत्तिदंसणादो । **दंसणेण** णिस्संक्रियादिगुणट्टपालणेण । **तवेण** संजमचरित्तगुणाणं वुड्ढियरो तवो अग्गिसरिसो तेण । **चरियेण** णिव्वियप्पसुद्धप्परमणेण सामाइ यादिपंचविहे ण । **संजमगुणेण य** चरियसाहणेण पंचमहव्वयसमिदियादि-गुणेसु दयासहिदपवट्टणेण । एदेहिं **चउहिं पि समाजोगे** एयट्ठीकरणेण

निमित्त रूप में है, इसकी यहाँ प्ररूपणा करते हैं—

अन्वयार्थ— (**णाणेण दंसणेण य**) सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से (**तवेण चरियेण**) सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र से (**चउहिं संजमगुणेण**) ये चारों संयम गुण कहलाते हैं (**समाजोगे**) इन चारों का समागम होने पर (**पि**) ही (**जिणसासणे**) जिनशासन में (**मोक्खो**) मोक्ष (**दिट्ठो**) देखा गया है अर्थात् कहा गया है ।

टीकार्थ—णाणेण पूर्वोक्त अरिहंतदेव के श्रद्धान के साथ जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान होता है क्योंकि दर्शनमोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है । **दंसणेण** निशंकित आदि आठ गुणों के पालन से दर्शन होता है । **तवेण** संयम और चारित्र के गुणों में वृद्धि करने वाला तप अग्नि के समान होता है इसलिए वह तप है । **चरियेण** निर्विकल्प शुद्धआत्मा में रमण के साथ सामायिक आदि पाँच प्रकार से चारित्र होता है । **संजमगुणेण य** चारित्र के साधन के रूप में पाँच महाव्रत, पाँच समिति आदि गुणों में दया के साथ प्रवर्तन करना संयम है । **चउहिं पि समाजोगे** इन सबको एकत्रित करके **जिणसासणे मोक्खो** सभी कर्मों से रहित लक्षण वाला मोक्ष जिनशासन में **दिट्ठो** देखा गया है अथवा कहा गया है । इसके द्वारा व्यवहारनय गत चारों ही कारणों के साथ जो आत्मा के नित्य, शुद्ध, अबद्ध, अपृष्ट, निरंजन, निराकार रूप को निर्विकल्प वीतराग स्वसंवेदन-समाधि के काल में ध्यान करता है वह अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में शुद्ध निश्चयगत शुद्धात्मा की अनुभूति के बल से जब अंतर्मुहूर्त तक स्वस्वरूप में चेष्टा करता है तब केवलज्ञान को उत्पन्न करके फिर आयु को पूर्ण करके मोक्ष को प्राप्त

सम्यक्त्व ज्ञान तप और चरित्र प्यारे, ये हैं सभी गुण सुसंयम के पुकारें ।

चारों मिलें तब मिले वह मोक्ष प्यारा, ऐसा कहें कि जिनशासन है हमारा ॥30॥

जिणसासणे मोक्खो सव्वकम्मविमुत्तिलक्खणो दिट्ठो कहिदो वा । एदेहिं ववहारणयगदेहिं चदुकारणेहि सह जो अप्पाणं णिच्चं सुद्धाबद्धापुट्ठणिरंजणणिरायाररूवं णिव्वियप्पवीयरागसगसंवेदण-समाहिकाले ज्ञायदि सो अप्पमत्तादिगुणट्ठाणेसु सुद्धणिच्छयगदसुद्धप्पाणमणुभूदिबलेण जदा अंतोमुहुत्तमेत्तं सगसरूवे चेट्ठदि तदा केवलणाणं समुप्पाइय आउअं पूरिय मोक्खं लभदि त्ति भावत्थो ॥30॥

उत्थानिका—अह गुणाणं सारो किमिदि वण्णेदि—

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।

सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥31॥

टीका—णाणं णरस्स सारो मणुयजीवणस्स सारो सहलत्तं दव्वसुदणाणेण सह भाव-सुदणाणस्सुवलद्धी । सारो वि णाणसारादो हि अहिययरो सारो णरस्स सम्मत्तं होइ । पत्तणाणस्सुवओगो ववहारणिच्छयणयगदतच्चसद्धहणं पडि परिणमणं सारभूदं तदेव सम्मत्तं । सम्मत्ताओ चरणं ववहारणिच्छयगदचारित्तं होदि चरणाओ णिव्वाणं होइ । चरित्तेण णिव्वाणस्स पत्ती त्ति ॥31॥

करता है, यह भावार्थ है ॥30॥

उत्थानिका—अब गुणों का सार क्या है ? यह वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(णाणं) ज्ञान (णरस्स) मनुष्य का (सारो) सार है (सम्मत्तं) सम्यक्त्व (वि) भी (णरस्स) मनुष्य का (सारो) सार (होइ) होता है (सम्मत्ताओ) सम्यक्त्व से (चरणं) चारित्र (चरणाओ) चारित्र से (णिव्वाणं) निर्वाण (होइ) होता है ।

टीकार्थ—णाणं णरस्स सारो मनुष्य जीवन का सार अर्थात् सफलता द्रव्यश्रुत ज्ञान के साथ भावश्रुत ज्ञान की उपलब्धि है, इसलिए ज्ञान मनुष्य का सार है यह कहा है । सारो वि अर्थात् ज्ञान के सार से भी अधिकतर सारभूत णरस्स सम्मत्तं होइ मनुष्य के लिए सम्यग्दर्शन है । प्राप्त हुए ज्ञान का उपयोग, व्यवहार और निश्चयनयगत तत्त्व श्रद्धान के प्रति जब परिणमन होता है तभी वह सारभूत होता है, इसलिए वह ही सम्यक्त्व कहलाता है । सम्मत्ताओ चरणं व्यवहार और निश्चयगत चारित्र सम्यग्दर्शन से होता है । चरणाओ णिव्वाणं होइ और उस चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है ॥31॥

उत्थानिका—अब पुनः चार प्रकार की आराधनाओं में दृढ़ करने के लिए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सम्मसहिण) सम्यक्त्व सहित (णाणम्मि) ज्ञान में (दंसणम्मि) दर्शन में (तवेण) तप के द्वारा (य) और (चरिएण) चारित्र के द्वारा (चउण्हं वि) चारों के

है ज्ञान सार नर का जग में कहाता, सम्यक्त्व सार नर का सबमें सुहाता ।

सम्यक्त्व से चरित हो वह कार्यकारी, चारित्र से मुक्ति हो अनिवार्य प्यारी ॥31॥

उत्थानिका—अह पुणो वि चउव्विहाराहणाए दिढीकरणटुं कहेदि—

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।

चउण्हं वि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥३२ ॥

टीका—सम्मसहिएण तवेण अण्णिच्छाणिरोहणं किच्चा अप्पाणम्मि पतवणेण चरिएण व्यवहारचरित्तपुव्वियं अप्पसरूवरमणेण णिच्छयचरिएण **णाणम्मि दंसणम्मि य समाजोगे** अप्पणो णाणसहावे दंसणसहावे य लीणे **चउण्हं वि समाजोगे** होदि। परमपारिणामियभावसरूवे अणाइणिहणसुद्धणाणदंसण-सहावे सम्मसहियचरित्ततवबलेण जो द्वादि सो अप्पाणुभूदिरूव-चउव्विहाराहणाफलमणुहवदि। एवंविहसमाजोगे सदि **जीवा सिद्धा** होंति त्ति विसए **संदेहो ण** कायव्वो। वुत्तं च—

णाणम्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।

ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे ॥

(समयसार ११) ॥३२ ॥

(समाजोगे) समागम होने पर (जीवा) जीव (सिद्धा) सिद्ध होते हैं (ण संदेहो) संदेह नहीं है।

टीकार्थ—सम्मसहिएण तवेण अन्य इच्छाओं का निरोध करके अपनी आत्मा में प्रतपन होना तप है। चरिएण व्यवहार चारित्र पूर्वक आत्मस्वरूप में रमण के साथ निश्चय चारित्र के द्वारा **णाणम्मि दंसणम्मि य समाजोगे** अपने ही ज्ञानस्वभाव में, दर्शन स्वभाव में लीन होने पर **चउण्हं वि** इन चारों का समायोग होता है। परमपारिणामिक भाव स्वरूप, अनादि-निधन शुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव में सम्यक्त्व सहित चारित्र और तप के बल से जो स्थित होता है वह आत्मानुभूतिरूप चार प्रकार की आराधना के फल का अनुभव करता है। इस प्रकार इन चारों के समायोग हो जाने पर **जीवा सिद्धा** जीव सिद्ध होता है। इस विषय में **संदेहो ण** संदेह नहीं करना चाहिए।

कहा भी है— “ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में निरंतर भावना करनी चाहिए। ये तीनों ही आत्मस्वरूप है इसलिए आत्मा की भावना करनी चाहिए।” ॥३२ ॥

उत्थानिका—अब पुनः दोनों प्रकार के सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट रूप से पूजित है, इस प्रकार का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवा) जीव (कल्लाणपरंपरया) कल्याण परम्परा से (विसुद्धसम्मत्तं)

आराधना चउ लिए जिन-लिंग धारें, सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित पूर्ण पालें।

संदेह क्या फिर भला मुनि सिद्ध होते, वे पाप पंक फलतः अविलम्ब धोते ॥३२ ॥

उत्थानिका—अह पुणो वि दुविहसम्मत्तं सव्वपूजिदमिदि वण्णेदि—

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।

सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥33॥

टीका—जीवा भव्वेसु णियडभव्वा कल्लाणपरंपरया णिच्छयसम्मत्तं ज्ञेयं किच्चा देवसत्थगुरु-छदव्वणवपयत्थाणं सद्दहणेण आयारंगादिसुदणाणेण भेयाभेयरयणत्तयपरिपालणेण केई जीवा महड्डियदेवरायचक्कवट्टिबलदेवादिविसिद्धपुण्णकम्मफलदपरंपरया सह केई जीवा दंसणविसोहिप्पहुडि-भावणाबलेण तित्थयरणामकम्मपुण्णपयडिं बज्झमाणा गब्भजम्मतवकल्लाणपरंपरया सह वा णिच्छयसम्मत्तं पाऊण णाण-णिव्वाणसहिदपंचकल्लाण-परंपरया वा विसुद्धसम्मत्तं सरागवीयरागभेद-रहिदं ववहारणिच्छयसण्णाभेयरहिदं वा केवलसम्मत्तं सिद्धजीवगदं लहंति। लोए अहोमज्झउड्ढलोए सुरासुरे सव्वदेवदाणवेहिं सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि पुज्जेदि त्ति। एदेण सिज्झदि ॥33॥

विशुद्ध सम्यक्त्व को (लहंति) प्राप्त करते हैं (लोए) लोक में (सुरासुरे) सुर-असुर में (सम्मद्दंसणरयणं) सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को (अग्घेदि) पूजा जाता है।

टीकार्थ—जीवा भव्यों में भी निकट भव्य जीव कल्लाणपरंपरया निश्चय सम्यक्त्व रूप ध्येय को करके देव, शास्त्र, गुरु, छह द्रव्य, नौ पदार्थ के श्रद्धान से आचारांग आदि श्रुतज्ञान के द्वारा भेद-अभेद रत्नत्रय के परिपालन से कितने ही जीव महर्धिक देव, राजा, चक्रवर्ती, बलदेव आदि विशिष्ट पुण्यकर्मों से फलित परम्परा के साथ, कितने ही जीव दर्शनविशुद्धि आदि भावना के बल से तीर्थकर नामकर्मरूप पुण्यप्रकृति को बांधते हुए गर्भ, जन्म, तपरूप कल्याण की परम्परा के साथ अथवा निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त करके ज्ञान और निर्वाण सहित पंचकल्याणक की परंपरा के द्वारा विसुद्धसम्मत्तं सराग, वीतराग भेदों से रहित व्यवहार निश्चय संज्ञा के भेद से रहित, केवल सम्यक्त्व जो कि सिद्ध जीवगत होता है उसको लहंति प्राप्त कर लेते हैं। लोए अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक में सुरासुरे अर्थात् सर्व देव और दानवों के द्वारा सम्मद्दंसणरयणं अग्घे सम्यग्दर्शन रत्न पूजा जाता है, इसी से ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥33॥

उत्थानिका—अब अक्षय सुख की प्रेरणा के लिए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(उत्तमेण गुत्तेण) उत्तम गोत्र के (सहियं) साथ (मणुयत्तं य) मनुष्यत्व को (ददूण) देखकर (तह) तथा (सम्मत्तं य) सम्यक्त्व को (लद्धूण) प्राप्तकर (अक्खय

सम्यक्त्व शुद्धतम पा समदृष्टि वाले, कल्याण पंच फलतः विरले संभाले।

सम्यक्त्व दिव्य मणि है जग-पूज्य तातैं, क्या मर्त्य क्या सुर सुसाधु उसे पुजाते ॥33॥

उत्थानिका—अह अक्खयसुहस्स पेरणट्टमाह—

दट्ठण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण।

लद्धण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं च मोक्खं च ॥34 ॥

टीका—उत्तमेण गुत्तेण सहियं मणुयत्तं दट्ठण य—सहिदयस्सेवंविह विचारो होदि जं मए पंचपरमेट्टिवीयरायदेवस्स कुले गुत्ते य जम्मं पत्तं। तं पि जम्मं पुव्वभवे णियमेण पंचगुरुपणदिकारण-जणिदपुण्णेण भूदं। तह पुणो वि विसेसरूवेण जिणभत्तिवसेण तच्चत्थसद्दहणेण **य सम्मत्तं लद्धण अक्खयसुक्खं च मोक्खं च** पावेदि ॥34 ॥

उत्थानिका—अरिहंतदेवस्स सरूवं पुणो वि भत्तिणिमित्तं कहेदि—

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो।

चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥35 ॥

सुक्खं) अक्षय सौख्य (**च मोक्खं**) और मोक्ष को [प्राप्त करता है]।

टीकार्थ—उत्तमेण गुत्तेण सहियं मणुयत्तं दट्ठण य उत्तम गोत्र से सहित मनुष्यपने को देखकर के सहृदय का ही इस प्रकार विचार होता है कि जो मेरे द्वारा पंचपरमेष्ठी वीतरागदेव के कुल में या गोत्र में जन्म प्राप्त हुआ है, वह जन्म भी पूर्वभवे में नियम से पंचगुरु की प्रणति (नमस्कार) के कारणों से उत्पन्न हुए पुण्य के द्वारा हुआ है और पुनः वही विशेष रूप से जिनभक्ति के बल से और तत्त्वार्थ के श्रद्धान से **सम्मत्तं लद्धण अक्खय सुक्खं च मोक्खं च** फिर वही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करके अक्षय सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति करता है ॥34 ॥

उत्थानिका—अब अरिहंतदेव का स्वरूप पुनः भक्ति के निमित्त है, इस प्रकार कहते हैं—

अन्वयार्थ—(**सहसट्ठ सुलक्खणेहिं**) एक हजार आठ लक्षणों से (**संजुत्तो**) संयुक्त [तथा] (**चउतीस अइसयजुदो**) चौतीस अतिशयों से युक्त (**जिणिंदो**) जिनेन्द्र (**जाव**) जबतक (**विहरदि**) विहार करते हैं (**सा**) वह (**थावरा**) स्थावर (**पडिमा**) प्रतिमा (**भणिया**) कही जाती हैं।

टीकार्थ—जाव जिणिंदो परम अरिहंत भट्टारक सहसट्ठसुलक्खणेहिं¹⁰⁸ श्रीवृक्ष (कल्पवृक्ष), स्वस्तिक, कमलादि लक्षणों से सहित और 900 व्यंजनों से **संजुत्तो** सहित होते हैं उसी प्रकार से

सम्यक्त्व का सुफल मानव जन्म पाता, पाता सुगोत्र कुल उत्तम सद्य पाता।

सम्यक्त्व से मनुज हो यह क्या न पाता, है अंत में अमित अक्षय मोक्ष पाता ॥34 ॥

चौतीस सातिशय से लगते विराट, धारें सुलक्षण जिनेश हजार आठ।

स्वामी विहार करते जबलों सही है, है स्थावरा शुचिमयी प्रतिमा वही है ॥35 ॥

टीका—जाव जिणिंदो परमारिहंतभडारयो सहसदुसुलक्खणेहिं सिरिक्खसंथियकमलादि-
सददुलक्खणसहिदणवसदवेजणेहि संजुत्तो तहा य चउतीसअइसयजुदो विहरदि सा पडिमा
थावरा भणिया । सहसदुसुलक्खणाणं णामाइं आदिपुराणे परूविदं । तं जहा—

विभुः कल्पतरुच्छायां बभाराभरणोज्ज्वलः ।
शुभानि लक्षणान्यस्मिन् कुसुमानीव रेजिरे ॥36॥
तानि श्री-वृक्षशङ्खाब्जस्वस्तिकांकुशतोरणम् ।
प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहविष्टरकेतनम् ॥37॥
झषौ कुम्भौ च कूर्मश्च चक्रमब्धिः सरोवरम् ।
विमानभवने नागौ नरनार्यौ मृगाधिपः ॥38॥
वाणवाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा ।
पुरं गोपुरमिन्द्रकों जात्यश्वस्तालवृन्तकम् ॥39॥
वेणुर्वीणा मृदङ्गश्च स्रजौ पट्टांशुकापणौ ।
स्फुरन्ति कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च ॥40॥
उद्यानं फलितं क्षेत्रं सुपक्वकलमाञ्चितम् ।
रत्नद्वीपश्च वज्रं च मही लक्ष्मीः सरस्वती ॥41॥
सुरभिः सौरभेयश्च चूडारत्नं महानिधिः ।
कल्पवल्ली हिरण्यं च जम्बूवृक्षश्च पक्षिराट् ॥42॥

चउतीस अइसयजुदो विहरदि सा पडिमा थावरा भणिया वह 34 अतिशयों से सहित होकर के
विहार करते हैं उनकी वह प्रतिमा स्थावर प्रतिमा कही जाती है, 1008 लक्षणों के नाम आदिपुराण
में कहे गए हैं। जो इस प्रकार हैं—

अनेक आभूषणों से उज्ज्वल भगवान् कल्पवृक्ष की शोभा धारण कर रहे थे और अनेक शुभ
लक्षण उस पर लगे हुए फूलों के समान सुशोभित हो रहे थे। श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक,
अंकुश, तोरण, चँवर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र,
सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर,
चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा, तालवृन्त-पंखा, बाँसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएँ, रेशमी वस्त्र, दुकान,
कुण्डल को आदि लेकर चमकते हुए चित्र-विचित्र आभूषण, फल सहित उपवन, पके हुए वृक्षों
से सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूड़ामणि, महानिधियाँ,
कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड़, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादिक ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ

उडूनि तारकाः सौधं ग्रहाः सिद्धार्थपादपः ।
 प्रातिहार्याण्यहार्याणि मङ्गलान्यपराणि च ॥43 ॥
 लक्षणान्येवमादीनि विभोष्टोत्तरं शतम् ।
 व्यञ्जनान्यपराण्यासन् शतानि नव संख्यया ॥44 ॥
 (आदिपुराण पर्व 15 पृ० 328)

उत्थानिका—एवंविहारिहंतदेवस्सुवलद्धी कथं होदि त्ति कहेदि—

**बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण स्सं ।
 वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥36 ॥**

टीका—विहिबलेण सम्मं ज्ञाणविहिमाइरिय बारसविहतवजुत्ता स्सं णियं कम्मं खविऊण अंतरंगे बहिरंगे दु वोसट्टचत्तदेहा पडमासणेण खडगासणेण य विउसगगतवेण चत्तदेहा जीवो अणुत्तरं णिव्वाणं पत्ता होंति तत्थ तेसिं अप्पपदेसाणमायारो पुव्वसरीरायारेण किंचिदूणो होदि । अह कम्मक्खवणविहिं किंचि वत्तइस्सामो । तं जहा—जो अणाइमिच्छादिट्ठी जीवो पंचलद्धिवसेण पढमुवसमं सम्मत्तं घेतूण सम्माइट्ठी जादो सो खओवसमसम्मत्तेण सह खइयसम्मत्तं पावेदि । खइय—सम्मत्तस्सुववत्ती चउत्थगुणट्ठाणादो सत्तमगुणट्ठाणपरियंतं कत्थ वि हवेज्ज ।

प्रातिहार्य और आठ मंगलद्रव्य इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यंजन भगवान् के शरीर में विद्यमान थे ॥35 ॥

उत्थानिका—इस प्रकार अरिहंतदेव की प्राप्ति कैसे होती है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बारसविहतवजुत्ता) बारह प्रकार के तप से युक्त (विहिबलेण) विधि बल से (स्सं) स्वयं के (कम्मं) कर्म का (खविऊण) क्षयकर (वोसट्टचत्तदेहा) पद्मासन या कायोत्सर्ग इन दो प्रकार की विधि से शरीर का त्याग करते हैं [तब] (णिव्वाणमणुत्तरं) अनुत्तर निर्वाण (पत्ता) प्राप्त करते हैं ।

टीकार्थ—विहिबलेण समीचीन रूप से ध्यान विधि का आचरण करके बारसविहतवजुत्ता स्सं कम्मं खविऊण 12 प्रकार के अंतरंग और बहिरंग तपों से कर्मों का क्षय करके वोसट्टचत्तदेहा पद्मासन या खड्गासन से व्युत्सर्ग तप के द्वारा देह को जिन्होंने छोड़ दिया है ऐसे जीव अणुत्तरं णिव्वाणं पत्ता वह अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त करते हैं । वहाँ उनके आत्म प्रदेशों का आकार पूर्व शरीर के आकार से कुछ कम होता है ।

योगी यथाविधि यथाबल कर्म सारे, काटे स्वकीय, तप बारह धर्म धारे ।
 निर्वाण प्राप्त करते भव-पार जाते, आते न लौट भव में तन धार पाते ॥36 ॥

तियरणपरिणामेहि अणंताणुबंधिकसाये विसंजोएदूण जो दंसणमोहखवणटुं पुणो वि तियरणपरिणामेहि मिच्छत्तसम्मामिच्छत्त- सम्मत्तकम्मपयडिं खवेदि सो सत्तपयडिसत्तरहिदो खइयसम्मादिट्ठी होदि ।

चउत्थ गुणट्ठाणे णिरयाऊ वि सत्ताए वोच्छिज्जदि । पंचमगुणट्ठाणे तहेव तिरिक्खाउस्स सत्तवुच्छेदो होदि । सत्तमगुणट्ठाणे देवाउअस्स सत्तवुच्छेदो होदि । सगट्ठाणापमत्तो समणो सहस्सवारेहिं पमत्तापमत्तपरावट्ठणं कादूण **कइपअकालं** वोल्लेदि । जदा सादिसयापमत्तो होदूण खवगसेढिमारोहदि तदा अधापवत्तकरणपरिणामेहि अपुव्वकरणपरिणामेहि य कमेण विसोहिदूण अणियट्ठिकरणगुणट्ठाणस्स पढमसुक्कज्झाणबलेण पढमभागे णिरयगदिणिरयगइआणुपुव्वितिरिक्खगइतिरिक्खगइआणुपुव्विदो- इंदियतेइंदियचउरिंदियातवउज्जोदएइंदियसाहारणसुहुमथावरणामकम्मसंबंधि तेरसपयडीहि सह थाणगिद्धीणिट्ठाणिट्ठापयलापयला दंसणावरणकम्मतियपयडीओ त्ति सोलहपयडीणं क्खओ होदि । विदियभागे पुण अपच्चक्खाणावरणपच्चक्खाणावरणचउक्कमिदि अट्ठपयडीणं क्खओ होदि । तदियभागे णवुंसयवेदस्स चउत्थभागे इत्थिवेदस्स पंचमभागे हस्सादिछणोकसायाणं छट्ठभागे पुंवेदस्स सत्तमभागे संजलणकोहस्स अट्ठमभागे संजलणमाणस्स णवमभागे संजलणमायाए त्ति

अब कर्म की क्षपण की विधि को यहाँ थोड़ा-सा कहते हैं, वह इस प्रकार है-जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव पंचलब्धि के वश से प्रथम उपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है वह क्षयोपशम सम्यक्त्व के साथ क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यंत कहीं पर भी हो सकती है । तीन करण परिणामों के द्वारा अनंतानुबंधी कषाय की विसंयोजना करके जो दर्शन मोह की क्षपणा के लिए पुनः तीन करण परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक्त्व कर्मप्रकृति का क्षय करता है वह सप्तप्रकृति के सत्त्व से रहित क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है ।

चतुर्थ गुणस्थान में नरकायु भी सत्ता से व्युच्छिन्न हो जाती है, पंचम गुणस्थान में उसी प्रकार से तिर्यचआयु का भी सत्त्व विच्छेद हो जाता है । सातवें गुणस्थान में देवआयु का सत्त्व विच्छेद हो जाता है, स्वस्थान अप्रमत्त श्रमण हजारों बार प्रमत्त, अप्रमत्त परावर्तनों को करके कुछ काल को गुजारता है । जब सातिशय अप्रमत्त हो करके क्षपक श्रेणी पर आरोहण करता है तब अधः प्रवृत्तकरण परिणामों के द्वारा और अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा क्रम से विशुद्धि को प्राप्त करके अनिवृत्ति करण गुणस्थान के प्रथमभाग में प्रथम शुक्लध्यान के बल से नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, आतप, उद्योत, एकइन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर इन नाम कर्म संबंधी 13 प्रकृतियों के साथ स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला इन दर्शनावरण कर्म की तीन प्रकृतियों से सहित 16 प्रकृतियों का क्षय करता है । दूसरे भाग में पुनः अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क इस तरह से आठ प्रकृतियों का क्षय होता है । तृतीय

छत्तीसकम्मपयडीणं सत्तविणासो णवमे गुणट्ठाणे णादव्वो। दसमगुणट्ठाणे संजलणलोहस्स खओ दिट्ठो। बारसमे गुणट्ठाणे विदियसुक्कज्झाणबलेण णाणावरणस्स पंच दंसणावरणस्स चदु अंतरायकम्मस्स पंच णिद्धा पयला चेदि सोलसकम्मपयडीणं खयादो केवलणाणादिचउक्कमुप्पाएदि। तत्थ णिद्धापयलापयडीणं खओ दुचरिमसमए अण्णेसिं चरमसमए णिद्धिट्ठो। एवं भगवदो तित्थयरो सामण्णो वा केवली उक्कस्सेण देसूणं पुव्वकोडिआउपज्जंतं विहरदि। अंतो मुहुत्ताउअवसेसे जदि वेदणीयणामगोदकम्माणं ट्ठिदी आउसमाणा होदि तदा-समुग्घादं ण करेदि। पुणो सुहुमकायावलंबणेण तदियसुहुमकिरियाअप्पडि-वादिज्झाणं झादि। जदा पुण वेदणीयादितिकम्माणं ट्ठिदी आउअस्स अहिया होदि तदा दण्डकवाड-पदरलोयपूरणसमुग्घादेहिं अट्ठसमयेहिं समाणट्ठिदिं काऊण बादरजोगा हाइदूण सुहुमकायजोगेण तदिय सुहुमकिरियाअप्पडिपादिज्झाणं झादि। तदणंतं चउत्थं समुच्छिण्णकिरियाणिवत्तियज्झाणं झादि चउदसमे गुणट्ठाणे। तत्थ दुचरिमसमए पंचसरी-पंचबंधणपंचसंघादतिअंगोवंगछहसंठाणछहसंहणणथिराथिर-सुहासुहसुस्सरदुस्सरपसत्थ-

भाग में नपुंसकवेद का, चतुर्थ भाग में स्त्रीवेद का, पाँचवें भाग में हास्यादि छह नो कषायों का, छठवें भाग में पुरुषवेद का, सप्तम भाग में संज्वलन क्रोध का, आठवें भाग में संज्वलन मान का, नवमें भाग में संज्वलन माया का इस प्रकार 36 कर्म प्रकृतियों का सत्त्व विनाश नवमें गुणस्थान में जानना चाहिए। 10 वें गुणस्थान में संज्वलनलोभ का क्षय देखा गया है। 12 वें गुणस्थान में दूसरे शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण की 4 और अन्तरायकर्म की 5 तथा निद्रा और प्रचला इन सोलह कर्म प्रकृतियों का क्षय हो जाने से केवलज्ञान आदि चतुष्क की उत्पत्ति होती है। वहाँ निद्रा, प्रचला प्रकृतियों का क्षय द्विचरम समय में और अन्य प्रकृतियों का क्षय चरमसमय में कहा गया है। इस प्रकार भगवान् तीर्थंकर या सामान्य केवली उत्कृष्टरूप से कुछ कम पूर्व कोटि आयु प्रमाण तक विहार करते हैं और अंतर्मुहूर्त आयु का अवशेष रह जाने पर यदि वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मों की स्थिति आयु के समान होती है, तब समुद्घात नहीं करते हैं फिर सूक्ष्मकाय के आलंबन से तृतीय सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान को ध्याते हैं। यदि पुनः वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति आयु से अधिक होती है तो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातों के द्वारा आठ समयों में ही समान स्थिति करके बादर योगों को छोड़ करके सूक्ष्म काययोग से तृतीय सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं। तदनन्तर चतुर्थ समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति नाम के ध्यान को 14 वें गुणस्थान में ध्याते हैं, वहाँ पर द्विचरम समय में 5 शरीर, 5 बंधन, 5 संघात, 3 अंगोपांग, 6 संस्थान, 6 संहनन, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, देवद्विक, अन्यतर वेदनीय, नीचगोत्र इन 72 प्रकृतियों का क्षय देखा जाता है। उसी 14वें गुणस्थान

विहायोगदिअपसत्थविहायोगदिदुब्भगणिम्मिणअजसकित्ति-अणादेयपत्तेय अपज्जत्तअगुरुलहु-
उवघादपरघादउस्सासदेवदुगाण्णदरवेदणीयणीचगोदाणि त्ति बाहत्तरिपयडीणं खयं दिस्सदि । तत्थ
चरिमसमए अण्णदरवेदणीयुच्चगोदमणुजाउमणुस्सगदि- मणुस्सगदिआणुपुव्विपंचिंदियजादि-
सुहगतस-बादर-पज्जत्तादेयजसकित्ति-तत्थयरणामाइं त्ति तेरसपयडीणं खयदंसणादो ।
एवमणादिबद्धसदाहियाडतालीसकम्मपयडिविणासे जीवो अणुत्तरं णिव्वाणसुहं पावेदि ।

इदि दंसणपाहुडस्स णंदिणीटीका मज्झिम्पदेसपंतस्स ‘मंदसोर जणवदे’
वीरणिव्वाणद्दे पच्चीससदेगतालीसतमे अट्टारसमे वरिसाजोगे सावणकिण्हचउदसीए गुरुवासरे
(13.08.2015) आइरियविज्जासायरस्स सिस्समुणिपणम्मसायरेण पुण्णा कदा ।

के चरमसमय में अन्यतर वेदनीयकर्म, उच्चगोत्र, मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय
जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्तक, आदेय, यशकीर्ति, तीर्थकर नाम वाली इन 13 प्रकृतियों का
क्षय देखा जाता है । इस प्रकार अनादिबद्ध 148 कर्म प्रकृतियों का विनाश हो जाने पर जीव अनुत्तर
निर्वाणसुख को प्राप्त कर लेता है ॥36॥

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित दर्शनपाहुड की नंदिनी टीका मध्यप्रदेश प्रांत के
मंदसौर जनपद में वीर निर्वाण संवत् 2541, 18वें वर्षायोग में श्रावण कृष्णा चतुर्दशी को गुरुवार
के दिन 13.08.2015 को आचार्य विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्यसागर के द्वारा टीका पूर्ण हुई ।

“इदि दंसणपाहुड”

दर्शनपाहुड-संज्ञा शब्दकोश

संज्ञा

टीका नं. 1

हुण्डावसर्पिणी = हुण्डावसर्पिणी,
 समय = काल,
 मद = मत,
 सव्वण्णु = सर्वज्ञ,
 जिणमद = जिनमत,
 आइरिय = आचार्य,
 दंसण = दर्शन,
 चारित्त = चरित्र,
 भाव = भाव,
 लिंग = लिंग,
 सील = शील,
 णामधेय = नामधेय,
 पाहुडद्वार = पाहुडद्वार,
 णमुक्कारगाहा = नमस्कार-गाथा,
 वीरादिपंचणामधारग = वीर आदि
 पांच नामों के धारक,
 अंतिमतिथयर = अंतिम तीर्थकर,
 णाण = ज्ञान, सुत्त, सूत्र,
 कम = क्रम,
 संखेवत्थ = संक्षेपार्थ,
 सद्द = शब्द,
 विसेसण = विशेषण,
 जहजादरूवधरा =
 यथाजातरूपधारी,
 साहु = साधु,
 सेट्टु = श्रेष्ठ,
 गणहरदेव = गणधरदेव,
 तिथयर = तीर्थकर,

अविरद = अविरत,
 सम्मादिट्ठी = सम्यग्दृष्टि,
 मग्ग = मार्ग,
 जिणरूप = जिनरूप
टीका नं. 2
 वण्णणं = वर्णन,
 परावर = पर अपर,
 गुरूवर = गुरूवर,
 धम्मपह = धर्मपथ,
 सिक्खणसील = सीखने का
 स्वभाव,

कज्ज = कार्य,
 उववत्ती = उत्पत्ति,
 जिणरूव = जिनरूप,
 अप्प = आत्मा,
 सहावो = स्वभाव,
 णिग्गट्ठ = निर्ग्रन्थ,
 अहिप्पपाओ = अभिप्राय,
 संजुद = संयुक्त,
 साहू = साधू,
 पडादिजुद = पटादियुक्त
 (वस्त्र सहित),
 भावत्थ = भावार्थ।

टीका नं. 3

जिणरूवधारग = जिनस्वरूपधारक
 दंसणसंजुत्त = दर्शन से युक्त,
 महिमा = महिमा,
 साहवो = साधवः (साधु लोग),

जिणरूवप्पमुह = जिन रूप की
 प्रमुखता वाले,
 विणट्ठ = विनष्ट,
 जोणि = योनि,
 चदुग्गदि = चतुर्गति,
 अण्णभेसधर = अन्यभेषधारी,
 अप्पसहाव = आत्मस्वभाव,
 संपत्ती = संप्राप्ति,
 पायच्छित्त = प्रायश्चित्त,
 तव = तप,
 विहाण = विधान,
 छेदोवट्ठावण = छेदोपस्थापन,
 चरिय = चरित्र,
 सहाव = स्वभाव,
 सयाकाल = सदाकाल,
 लक्खण = लक्षण,
 मोक्ख = मोक्ष,
 भावत्थ = भावार्थ।

टीका नं. 4

तव = तप,
 गाहा = गाथा,
 सद्द = शब्द,
 अहाव = अभाव,
 पमुह = प्रमुख,
 संका = शंका,
 दोस = दोष,
 अत्त = आप्त,
 तच्च = तत्त्व,
 रुई = रुचि,

विसोही = विशुद्धि,
अहिय = अधिक,
विराहण = विराधना,
मण = मन,
अणायदण = अनायतन,
अणाकुलदा = अनाकुलता,
णाम = नाम,
मण = मन,
जिणिंद = जिनेन्द्र,
पूया = पूजा,
जिणुत्तवयण = जिनोक्त वचन,
समब्भास = समभ्यास,
णंदीसरादि = नंदीश्वरादि,
जिणिबिंब = जिनबिम्ब,
भत्ती = भक्ति,
साहण = साधन,
भावणा = भावना,
परलोए = परलोक में,
आराहणाविरहिया = आराधना से रहित,
जोणी = योनि।

टीका नं. 5

जिणलिंगधारी = जिनलिंगधारी,
दव्वलिंगी = द्रव्यलिंगी,
णिव्वाणगमण = निर्वाणगमन,
विरोह = विरोध,
पुच्छा = पृच्छा,
सद्दहण = श्रद्धान,
परिणदि = परिणति,
आयार = आचार,
सिद्धंत = सिद्धान्त,
अज्झप्प = अध्यात्म,
णाय = न्याय,
वायरण = व्याकरण,

अलंकार = अलंकार,
छंद = छन्द,
रूव = रूप,
सत्थ = शास्त्र,
आराहण = आराधना,
उज्जोवण = उद्योतन,
उज्जवण = उद्यमन,
णिव्वहण = निर्वहण,
साहण = साधन,
णिच्छरण = निस्तरण,
दंसण = दर्शन,
णान = ज्ञान,
चरित = चरित्र,
वक्कलंकार = वाक्य-अलंकार,
मिच्छादिट्ठि = मिथ्यादृष्टि,
उग्ग = उग्र,
तव = तप,
दिढरूव = दृढरूप,
अदढचारित = अदृढचरित्र वाला,
विवरीय = विपरीत,
आसय = आशय,
संकार = संस्कार,
भोगकंखा = भोगाकांक्षा,
कम्मक्खय = कर्मक्षय।
टीका नं. 6
भव्वजीव = भव्यजीव,
पायद = प्राकृत,
लक्खण = लक्षण,
विहत्ति = विभक्ति,
लोव = लोप,
पमुह = प्रमुख,
पत्थ = पदार्थ,
अग्ग = आगे,
दंसणायार = दर्शनाचार,

कहण = कथन,
णाणायार = ज्ञानाचार,
गंथचाय = ग्रन्थत्याग
(परिग्रह-त्याग),
जोएसु = योगेसु (योगो में),
उब्भसण = कायोत्सर्ग से खड़े होना,
चरित्तायार = चरित्राचार,
सरीर = शरीर,
तव = तप,
संहणण = संहनन,
तवायार = तपाचार,
वीरिय = वीर्य,
वीरियंतराइयकम्म = वीर्यान्तराय कर्म,
खओवसम = क्षयोपशम,
जणिदसत्ती = जनितशक्ति,
कलिकालजणिद =
कलिकालजनित,
मिच्छापह = मिथ्यापथ,
वासणा = वासना,
मुक्क = मुक्त,
भद्दणकुमार = भद्रकुमार,
राजपुत्त = राजपुत्र,
अणादिमिच्छादिट्ठी =
अनादिमिथ्यादृष्टि,
तसपज्जाय = त्रसपर्याय,
उसहजिणणाह = वृषभजिननाथ,
वदणकमल = मुखकमल,
अप्पकाल = अल्पकाल,
मुत्तिकंता = मुक्तिकान्ता,
वल्लह = वल्लभ,
खण = क्षण।
टीका नं. 7

पवह = प्रवाह,
 णिच्चं = नित्य,
 हिय = हृदय,
 बालुयवरणं = बालू का आवरण,
 णास = नाश,
 कम्म = कर्म,
 अट्टदल-कमलजुद = अष्टदल
 कमलयुक्त,
 दव्वमण = द्रव्यमन,
 पवह = प्रवाह,
 उवओग = उपयोग,
 परिणदी = परिणति,
 उच्चसमूह = उत्कृष्टसमूह,
 वड्ढि = वृद्धि,
 कम्मट्ठिदिबन्ध = कर्मस्थितिबन्ध,
 अंतोकोडाकोडी =
 अंतःकोडाकोडी,
 हत्थिणहाण = हस्ति-स्नान,
 णिज्जर = निर्जरा,
 भत्तिजणिद = भक्तिजनित,
 अहिणव = अभिनव (नये),
 पच्चय = प्रत्यय,
 णिविव्यप्प = निर्विकल्प,
 सगसंवेदण = स्वसंवेदन,
 उवओग = उपयोग,
 एक्कपरिणदि = एकपरिणति,
 समिदि = समिति,
 अहाव = अभाव,
 पमादपच्चय = प्रमाद-प्रत्यय,
 तिकसाय = त्रिकषाय (तीन
 कषाय),
 चदुक्क = चतुष्क,
 तक्कसायाणुसरि = तत्कषायानुसारी,
 पुव्वबन्ध = पूर्वबन्ध,

पुढवी = पृथ्वी,
 णाणि = ज्ञानी।
टीका नं. 8
 भट्टजीव = भ्रष्टजीव,
 हाणि = हानि,
 बहुविह = बहुविध,
 संकिद = संस्कृत,
 णाय = न्याय,
 सत्थ = शास्त्र,
 तवोकम्म = तपोकर्म,
 णिग्गन्ध = निर्ग्रन्थ,
 वीयराय = वीतराग,
 मोग्खमग्ग = मोक्षमार्ग,
 सहहण = श्रद्धान,
 समभावजणिदसुह =
 समभावजनितसुख,
 अण्णाण = अज्ञान,
 पडिगूल = प्रतिकूल,
 विपरीत,
 गहिदमिच्छासंकार = गृहीत
 मिथ्या संस्कार,
 इंदभूदि = इन्द्रभूति,
 गोवाल = गोपाल,
 मिच्छाणाणेण = मिथ्याज्ञान से,
 कोडिभव सहस्स = करोड़ो भव
 सहस्र,
 मिच्छामदपसार = मिथ्यामतप्रसार।
टीका नं. 9
 धम्म सहाव = धर्म-स्वभाव,
 खमा = क्षमा,
 पवुत्ति = प्रवृत्ति,
 अप्पा = आत्मा,
 सुद्धं = शुद्ध,
 सहाव = स्वभाव,

पंचिंदिय = पंचेन्द्रिय,
 मण्णिरोह = मन-निरोध,
 थावर = स्थावर,
 तसकाय = त्रसकाय,
 विराहण = विराधन,
 पाणि = प्राणी,
 अणुट्ठाण = अनुष्ठान,
 संजमधारी = संयमधारी,
 अणसण = अनशन,
 बाहिर = बाहरी,
 तव = तप,
 अब्भंतर = अभ्यन्तर,
 पायच्छित्त = प्रायश्चित्त,
 तवसाहण = तपसाधन,
 परिमिद = परिमित,
 जोगवत्थु = योगवस्तु,
 णियमधारी = नियमधारी,
 आवस्सयकम्म = आवश्यक कर्म,
 वरिसा = वर्षा,
 आदावण = आतापन (गर्मी),
 सीद = शीत,
 जोग = योग,
 भाण = ध्यान,
 समाहि = समाधि,
 जोयधारी = योगधारी,
 माण = मान,
 मच्छर = मत्सर,
 णिद्दोस = निर्दोष,
 दुज्जण = दुर्जन,
 भग्ग = भ्रष्ट,
 सज्जण = सज्जन,
 पमाण = प्रमाण।

टीका नं. 10

दिट्टंत = दृष्टान्त,
 दार = द्वार,
 हाणि = हानि,
 रूक्ख = वृक्ष,
 विणास = विनाश,
 पागद = प्राकृत,
 विहत्ति = विभक्ति,
 लोव = लोप,
 जिणरूव = जिनरूप,
 परिणिव्वाण = परिनिर्वाण।

टीका नं. 11

उप्पत्ति = उत्पत्ति,
 कलिका = कली,
 पुप्फ = पुष्प,
 दिट्टंत = दृष्टान्त,
 जिणमदाणुयूलाचार =
 जिनमतानुकूल आचार,
 गुत्ति समिति पवाल = गुप्ति
 समिति रूपी प्रवाल,
 जमणियम = यम-नियम,
 णिरत्थय = निरर्थक,
 सुद्धप्परमण = शुद्धात्परमण,
 सहावगुण = स्वभावगुण,
 गोवुच्छय = गोपुच्छक,
 सेदंबर = श्वेताम्बर,
 दविड = द्रविड,
 जावणीय = यापनीय,
 णिप्पिच्छ = निष्पिच्छ,
 लोहाइरिय = लोहाचार्य,
 सण्णास = सन्यास,
 मरण = मरण,
 पइण्णा = प्रतिज्ञा,
 गोवुच्छयसंघ = गोपुच्छसंघ,

अवरणाम = अपरनाम,
 काट्टा = काष्ठा,
 णंदितड = नन्दीतट,
 लाड्ढागड = लाटबागड,
 साहा = शाखा,
 पसिद्ध = प्रसिद्ध,
 विक्कमद्द = विक्रमाब्द,
 वरिस = वर्ष,
 भद्दबाहु = भद्रबाहु,
 संताइरिय = शांति आचार्य,
 सोरट्टु = सौराष्ट्र,
 दुभिक्ख = दुर्भिक्ष,
 वत्थ = वस्त्र,
 पत्त = पात्र,
 उववत्ती = उत्पत्ति,
 विक्कमराय = राजा विक्रम,
 मरणोवंत = मरणोपरान्त,
 पंचसय = पंचशत,
 पंचसयच्छब्बीसवरिस = 526 वर्ष,
 पुज्जपाद = पूज्यपाद,
 वज्जणंदि = वज्रनन्दि,
 सावज्ज = सावध,
 अप्पासुय = अप्रासुक,
 भोयण = भोजन,
 अणेयविह = अनेकविध,
 पावोवदेश = पापोपदेश,
 कल्लाण = कल्याण,
 णयर = नगर,
 सिरिकलस = श्रीकलश,
 इत्थिमुत्ति = स्त्रीमुक्ति,
 केवलिभुत्ति = केवलीभुक्ति,
 सिद्धंत = सिद्धान्त,
 अवरणाम = अपरनाम,
 माहुर = माथुर,

अणंतर = अनन्तर।

टीका नं. 12

णिग्गंथ = निर्ग्रन्थ,
 वीयराय = वीतराग,
 जिणमग्ग = जिनमार्ग,
 चरंताण = आचरण करने वाले,
 णिय = निज,
 णाण = ज्ञान,
 पवयण = प्रवचन,
 पहाव = प्रभाव,
 लोय = लोक,
 पसंसा = प्रशंसा,
 तव = तप,
 कित्ति = कीर्ति,
 णमोक्कार = नमस्कार,
 हत्थरहिद = हस्तरहित,
 वयणसत्ती = वचनशक्ति,
 रयणत्तयपत्ती = रत्नत्रयसम्पत्ति,
 गुणदोधिग = गुणाधिक्य,
 विणय = विनय,
 अणंतसंसारी = अनन्तसंसारी,
 पोत्थ = पुस्तक,
 पुरिस = पुरुष,
 लुल्लमूआ = लूले-मूक
 (लंगडे-गूंगे),

वोही = बोधि

टीका नं. 13

विवरीय = विपरीत,
 पसंसा = प्रशंसा,
 मिच्छत्त = मिथ्यात्व,
 पाव = पाप,
 समत्थण = समर्थन,
 लोए = लोक में,
 साहू = साधु,

अइ = अति,
 गव्विओ = गर्वित,
 समीव = समीप,
 हत्थ = हस्त,
 अंजलिबद्ध = अंजलिबनाये,
 पाय = पाँव,
 विणयेण = विनयेन = विनय से,
 सक्कार = सत्कार,
 हत्थ = हस्त,
 रसिद्धिसात = रस,
 ऋद्धि, सात,
 धणिय = धनवान,
 सावय = श्रावक,
 भोयण = भोजन,
 संपहिकाल = वर्तमानकाल,
 सव्वसुह = सर्वसुख,
 साहण = साधन,
 भोयणसाला = भोजनशाला,
 उण्ह = उष्ण,
 पूडियादिय = पूरीआदि,
 अइसीद = अतिशीतल,
 साविया = श्राविका,
 अहिमाण = अभिमान,
 पमादि = प्रमादी,
 ववहार = व्यवहार,
 मंततंत = मन्त्र-तन्त्र,
 खुद्द = क्षुद्र,
 इड्ढि = ऋद्धि,
 सादावेदणीय = साता वेदनीय,
 कम्मोदय = कर्मोदय,
 णिरोगी = निरोगी,
 सव्वपयार = सर्वप्रकार,
 अणुगूल = अनुकूल,
 वादावरण = वातावरण,

सुह = सुख,
 परीसह = परीसह,
 साद = साता,
 राज = राजा,
 मंत्ति = मन्त्री,
 सेट्टिय = श्रेष्ठी,
 बाहा = बाधा,
 भएण = भयेण (भय से),
 अहाव = अभाव,
 अप्पमाद = अप्रमाद,
 पसंग = प्रसंग,
 पवयणसार = प्रवचनसार,
 सामण्ण = श्रामण्य,
 गुणाधर = निम्नगुण वाला,
 मिच्छुवजुत्ता = मिथ्यात्व-युक्त,
 प्रब्भट्टचारित्त = प्रभ्रष्टचरित्र,
 किरिया = क्रिया,
 अधिगगुण = अधिक गुण वाला
टीका नं. 14
 अत्थ = अर्थ,
 णिरायरणट्ट = निराकरणार्थ,
 गंथचाय = ग्रंथि-त्याग
 (परिग्रह-त्याग),
 जोएसु = योगेसु,
 योगों में,
 बहिरब्भंतर = बहिरभ्यन्तर,
 भेण = भेदेन = भेदों से,
 खेत्त = क्षेत्र,
 वत्थु = वस्तु,
 हिरण्ण = हिरण्य,
 सुवण्ण = सुवर्ण,
 धण = धन,
 धाण्ण = धान्य,
 दसविह = दशविध,

बाहिरो = बाहरी,
 परिग्गह = परिग्रह,
 मिच्छत्त = मिथ्यात्व,
 तिवेद = त्रिवेद,
 स्त्री पुनपुंसक वेद,
 चत्तारिकसाय = चार कषाय,
 णो कसाय = नो कषाय,
 लक्खण = लक्षण,
 परिच्चाग = परित्याग,
 चाग = त्याग,
 मुच्छा = मूर्च्छा,
 देवगदि = देवगति,
 पूयादिविसए = पूजादिविषये,
 रदी = रति,
 तच्चत्थ = तत्त्वार्थ,
 तिवेद = त्रिवेद,
 कसाय = कषाय,
 णोकसाय = नोकषाय,
 अवसी = अवशी,
 विवादिद = विवदित,
 पसंग = प्रसंग,
 विकहा = विकथा,
 वियंग = व्यंग्य,
 परुष = परूष,
 णिट्ठुर = निष्ठुर,
 वयण = वचन,
 चलाचले = चलाचली की वेला
 में,
 पाणि = प्राणी,
 सरूव = स्वरूप,
 ठादि = स्थिति,
 पडिक्कमण = प्रतिक्रमण,
 सज्झाय = स्वाध्याय,
 अणुट्टाण = अनुष्ठान,

पाणिपत्त = करपात्र,
 एगट्टाण = एक स्थान,
 भोयण = भोजन
टीका नं. 15-16
 माहप्प = माहात्म्य,
 दव्व = द्रव्य,
 पयत्थ = पदार्थ,
 खओवसमिय = क्षयोपशमिक,
 विवज्जास = विपर्यास,
 भेयाभेय = भेदाभेद,
 सरूव = सरूप,
 अहाव = अभाव,
 रहिद = रहित,
 णाणुवजोग = ज्ञानोपयोग,
 आसव = आस्रव,
 णिज्जरा = निर्जरा,
 मोक्ख = मोक्ष,
 पुण्ण = पुण्य,
 पाव = पाप,
 उवलद्धी = उपलब्धि,
 ववहार = व्यवहार,
 णिच्छय = निश्चय,
 णय = नय,
 हियंकर = हितकर,
 कल्लाणयर = कल्याणकर,
 सगप्पा = स्वात्मा,
 पडिबंध्य = प्रतिबंधक,
 मिच्छत्त = मिथ्यात्व,
 अविरद = अविरत,
 पमाद = प्रमाद,
 रयणतय = रत्नत्रय,
 पुण्णपावकिरिया =
 पुण्यपापक्रिया,
 पुरिस = पुरुष,

कुच्छिद = कुत्सित,
 संसग्ग = संसर्ग,
 सहावरद = स्वभावरत,
 णियप्प = निजात्म,
 सुक्क = शुक्ल,
 भाण = ध्यान,
 काल = मृत्यु,
 वेमाणिग = वैमानिक,
 चक्कवट्टि = चक्रवर्ती,
 पच्छा = पश्चात्,
 अंतोमुहुत्त = अन्तर्मुहूर्त,
 थिरत्त = स्थिरता,
 सिद्धसुह = सिद्धसुख
टीका नं. 17
 पसंसणट्ठ = प्रशंसार्थ,
 पच्चक्खीभूद = प्रत्यक्षीभूत,
 संपहि = वर्तमानकाल,
 सुदणाण = श्रुत-ज्ञान,
 जिणवयण = जिनवचन,
 पुव्वज्जिद = पूर्वार्जित,
 कोट्टमल = कोष्ठ-मल,
 विसयासत्ति = विषयसक्ति,
 ताव = ताप,
 रदी = रति,
 सब्भाव = स्वाभाविक,
 विसिट्ठ = विशिष्ट,
 अमियभूद = अमृतभूत,
 विरत्ति = विरक्ति,
 कडुय = कड़वे,
 अणुभव = अनुभव,
 मुद्दारक्खस = मुद्राराक्षस,
 णाडय = नाटक,
 सासण = शासन,
 अलिहंत = अरिहंत,

मोहवाहि = मोहव्याधि,
 वेज्ज = वैद्य,
 कडुअ = कड़वा,
 पत्थ = पथ्य,
 बुद्धिदसा = बुढ़ापा,
 आउकम्मखओ = आयुर्कर्मक्षय,
 वाही = व्याधि,
 सस्सद = शाश्वत,
 सच्च = सत्य,
 क्षुहा = क्षुधा,
 णिद्दा = निद्रा,
 अण्णाण = अज्ञान,
 विणासण = विनाश,
 पच्चय = प्रत्यय,
 कज्ज = कार्य,
 सिद्धभत्ती = सिद्धभक्ति।
टीका नं. 18-19
 संका = शंका,
 णिरायणट्ठ = निराकरणार्थ,
 दंसणपडिमा = दर्शनप्रतिमा,
 जहण्ण = जधन्य,
 मज्झिम = मध्यम,
 उक्कट्ठ = उत्कृष्ट,
 गिह = गृह,
 परिच्चाग = परित्याग,
 सेस = शेष,
 अवसिट्ठ = अवशिष्ट,
 भावत्थ = भावार्थ
टीका नं. 20-21
 उहयणय = उभयनय,
 वक्खाण = व्याख्यान,
 सद्दहण = श्रद्धान,
 ववहार = व्यवहार,
 सम्मत्त = सम्यग्दर्शन,

णिच्छय = निश्चय,
दुविह = द्विविध,
अविणाभूद = अविनाभूत,
वीयराय = वीतराग,
सम्मत्त = सम्यक्त्व,
तक्काल = उस काल,
अहाव = अभाव,
अपमत्त संजम = अप्रमत्त संयम,
पमत्त संजम = प्रमत्त संयम,
देस संजम = देश संयम,
गुणट्टाण = गुण स्थान,
सगलेगदेस = सकल एकदेश,
मुक्ख = मुख्य,
णवपदत्थगद = नवपदार्थगत,
गोणप्पस्संग = गौणप्रसंग,
भावत्थ = भावार्थ,
मोक्खट्ट = मोक्षार्थ,
पच्चवट्ट = निश्चयार्थ,
शुद्धणाणघण = शुद्धज्ञानधन,
अणुभवण = अनुभव,
णवपदत्थगदमुवओग =
नवपदार्थगत उपयोग,
विहत्तिलोव = विभक्ति लोप,
सव्वुक्कट्ट = सर्वोत्कृष्ट,
सोवाण = सोपान,
अहिरोहिणी = सीढ़ी
टीका नं. 22-23
अइउत्तुंग = अतिअत्तुंग,
गमणसत्ती = गमनशक्ति,
अहाव = अभाव,
किरिया = क्रिया,
अवस्स = अवश्य,
परदव्व = परद्रव्य,
पुधभूद = पृथग्भूत,

सुद्धप्पा = शुद्धात्मा,
अणुभूदि = अनुभूति,
सुद्धणय = शुद्धनय,
उदअ = उदय,
वियप्प = विकल्प,
जिणदिक्खा = जिनदीक्षा,
गिह = गृह,
वावार = व्यापार,
मित = मित्र,
मणुण्ण = मनोज्ञ,
पदत्थ = पदार्थ,
रागसामग्गी = रागसामग्री,
वेर = वैर,
कोह = क्रोध,
विणय = विनय,
सुपसत्थ = सुप्रशस्त,
णिच्च = नित्य,
गुणवंतजण = गुणवान लोग,
अपसत्थ = अप्रशस्त,
अइउच्छाह = अतिउत्साह,
आराहग = आराधक,
णिस्सकिंद = निःशंकित,
णिकखिद = निःकांक्षित,
णिव्विदुगुंछा = निर्विचिकित्सा,
अमूढदिट्ठि = अमूढदृष्टि,
उवगूहण = उपगूहन,
ठिदिकरण = स्थितिकरण,
पहावणा = प्रभावना,
सहिद = सहित,
अत्थायार = अर्थाचार,
विंजणायार = व्यंजनाचार,
उहयायार = उभयाचार,
कालायार = कालाचार,
उवहाणायार = उपधानाचार,

विणयायार = विनयाचार,
बहुमाण = बहुमान,
अणिण्हवण = अनिह्व,
महव्वद = महाव्रत,
गुत्ति = गुप्ति,
उवयार = उपचार,
मच्छर = मात्सर्य,
णिंद = निन्द,
वत्ता = वार्ता
टीका नं. 24-25
सहजुप्पण्ण = सहजोत्पन्न,
संजम = संयम,
पडिवण्ण = प्रतिपन्न,
मिच्छाइट्ठी = मिथ्यादृष्टि,
समण = श्रमण,
सावअ = श्रावक,
अज्जिआ = आर्यिका,
णिग्गंथ = निर्ग्रन्थ,
अण्हाण = अस्नान,
अचेलत्त = अचेलकत्व,
णिव्वियार = निर्विकार,
मुच्छा = मूर्च्छा,
लोह = लोभ,
कित्तिवंछा = यश की इच्छा,
उद्दिट्ठ = उद्दिष्ट,
पडिगूल = प्रतिकूल,
अमर = देवता,
गारव = अहंकार,
विवज्जिय = विवर्जित, रहित,
भवणवासी = भवनवासी,
वाणवेंतर = व्यंतर,
जोइसिय = ज्योतिष,
वेमाणिय = वैमानिक,
बम्हचेर = ब्रह्मचर्य,

पवयण = प्रवचन,
 उत्तर = उत्तर,
 उक्कट्ट = उत्कृष्ट,
 अणुत्तर = अनुत्तर,
 णिस्सेस = निःशेष,
 कम्मक्खय = कर्मक्षय,
 पडिपुण्ण = परिपूर्ण,
 णिकाय = निकाय,
 णेगाइय = नैकायिक,
 सावज्ज = सावद्य,
 लक्खण = लक्षण,
 सामाइय = सामायिक,
 अइयार = अतिचार,
 पायच्छित्त = प्रायश्चित्त,
 सल्ल = शल्य,
 घट्टण = विनाश,
 उवसम = उपशम,
 खवग = क्षपक,
 सेढी = श्रेणी,
 पगरिसेण = प्रकर्ष रूप से,
 पमोक्ख = प्रमोक्ष,
 णिग्गमणमग्ग = निर्गमनमार्ग,
 णिज्जाण = निर्वाण,
 सारीरिग = शारीरिक,
 माणसिय = मानसिक,
 आगंतुक = आगन्तुक,
 अवितह = अवितथ,
 सक्खाद = साक्षात्,
 अभिणिवेस = अभिनिवेश,
 सत्ति = शक्ति,
 इड्ढि = ऋद्धि,
 भोयण = भोजन,
 वयण = वचन,
 सम्मद = समुदाय (जन),

पहाव = प्रभाव,
 सद्द = शब्द,
 तिविह = त्रिविध,
 पमाद = प्रमाद,
 विवज्जिय = विवर्जित (रहित)
टीका नं. 26
 गहादय = गाथाद्वय,
 असंजद = असंयमी,
 सवत्थ = सवस्त्र,
 वत्थविहीणो = वस्त्र विहीन,
 जादरूव = जातरूप,
 बहिरब्भंतर = बाहर-भीतर,
 वंदणकिरिया = वन्दनक्रिया,
 अजोग्ग = अयोग्य,
 विणास = विनाश,
 परिग्गह = परिग्रह,
 पसंग = प्रसंग,
 घाद = घात,
 उद्देस = स्थान पर,
 बहुमुल्ल = बहुमूल्य,
 अइ = अति,
 मिदु = मृदु,
 घणबाहल्ल = घनीभूत बाहुल्य में
 (लंबाई चौड़ाई से युक्त),
 कड = कट (चटाई),
 वाहण = वाहन,
 भायण = भाजन,
 साहण = साधन,
 अग्गिचूल्लह = अग्नि-चूल्हा,
 मज्जणी = मार्जनी (झाड़ू),
 तावणिरोहसाहण = तापनिरोधसाधन,
टीका नं. 27-28
 जाइ = जाति,

सवण = श्रमण,
 सावअ = श्रावक,
 मणोहर = मनोहर,
 बलिट्ट = बलिष्ठ,
 सव = रूप,
 लावण्ण = लावण्य,
 ओरालिय = औदारिक,
 असुइ = अशुचि,
 पिदुपक्खो = पितृपक्ष,
 राय = राजा,
 मत्त = मन्त्री,
 मण्ण = मान्य,
 अइ = अति,
 विहव = वैभव,
 माउपक्ख = मातृपक्ष,
 मादुल = मातुल, माया,
 ववदेस = व्यपदेश,
 अणुवलंभ = अनुपलब्ध,
 इट्टदर = इष्टतर,
 पडिसेह = प्रतिसेध,
 अहिप्पाय = अभिप्राय,
 अणवबोह = अनवबोध,
 णिरोह = निरोध,
 विसोही = विशुद्धि,
 वड्ढ = बढ़ना,
 अणुराय = अनुराग,
 तवोकम्म = तपःकर्म,
 अणसण = अनशन,
 परिच्चाय = परित्याग,
 मोण = मौन,
 सज्झाय = स्वाध्याय,
 मुख = मुख्य,
 गुणरक्खणट्ट = गुणरक्षार्थ,
 इत्थि = स्त्री,

पुं = पुल्लिङ्ग,
 णवुंस = नपुंसक,
 तिरिक्ख = तिर्यज्य,
 मणुय = मनुष्य,
 णिय = निज,
 उवलद्धि = उपलब्धि,
 रूइ = रुचि,
 पुव्विय = पूर्वक,
 णिम्मल = निर्मल,
 कुडिलदा = कुटिलता,
टीका नं. 29
 अइसय = अतिशय,
 अणवरद = अनवरत,
 बहुसत्त = बहुत जीव,
 हिअ = हित,
 कम्मखय = कर्मक्षय,
 णिमित्त = निमित्त,
 भडारय = भट्टारक,
 उवलक्खण = उपलक्षण,
 असोगरुक्ख = अशोकवृक्ष,
 छत्तत्तय = छत्रतय,
 पुप्फवरिसण = पुष्पवर्षा,
 दिव्वभुणि = दिव्यध्वनि,
 पडिहेरे = प्रातिहार्य,
 निस्सेदो = निस्वेदता,
 णिम्मलदा = निर्मलता,
 खीररत्त = क्षीर-रक्त,
 समचउरस्संठाण = समचतुरस्रसंस्थान,
 वज्ज = वज्र,
 रिसह = वृषभ,
 णाराय = नाराच,
 संहण्ण = संहनन,
 सुरूव = सुरूप,
 सुलक्खण = सुलक्षण,

अप्पडिहद = अप्रतिहत,
 वीरिय = वीर्य,
 पिय = प्रिय,
 हिद = हित,
 सुभिक्ख = सुभिक्ष,
 गगण = गगन,
 गमण = गमन,
 पाणिवह = प्राणीवध,
 उवसग्ग = उपसर्ग,
 मुहाणि = मुखानि,
 विज्जाण = निज्ञान,
 ईसरत्त = ईश्वरत्न,
 अणिमेस = अनिमेस,
 लोयण = लोचन,
 णह = नख,
 केख = बाल,
 बुडिढ = वृद्धि,
 हियंकरी = हितकारी,
 परोप्पर = परस्पर,
 पीदिंकर = प्रीतिकर,
 उडू = ऋतु,
 जोयण = योजन,
 गंधोदग = गंधोदक,
 पादण्णासक्खण्ण = पादन्यासक्षण
 रय = रज,
 अणुयर = अनुचर,
 सेवग = सेवक,
 कज्ज = कार्य,
 अपुव्वकरण = अपूर्वकरण,
 अणियट्टिकरण = अनिवृत्तिकरण,
 खवनसम = क्षमोपशम,
 अणवरद = अनवरत,
 णिरंतर = निरन्तर,
 बहुसत्त = बहुत जीवों का,

हिअ = हित,
 अत्थ = अर्थ,
टीका नं. 30
 समाजोग्ग = समागम,
 दंसणमोह = दर्शनमोह,
 उवसम = उपशम,
 क्खय = क्षय,
 खओवसम = क्षयोपशम,
 अग्गि = अग्नि,
 णिव्वियप्प = निर्विकल्प,
 सुद्धप्प = शुद्धात्मा,
 सामाइय = सामायिक,
 पंचविह = पंचविध,
 साहण = साधन,
 पंचमहव्वय = पंचमहाव्रत,
 एयट्ठीकरण = एकत्रीकरण,
 सव्वकम्म = सर्वकर्म,
 विमुत्ति = विमुक्ति,
 लक्खण = लक्षण,
 ववहारणयगद = व्यवहारनयगत,
 णिच्च = नित्य,
 सुद्ध = शुद्ध,
 अबद्ध = बन्धनरहित,
 अपुट्ट = अपृष्ट,
 णिरंजण = निरंजन,
 णिरायार = निराकार,
 रूव = रूप,
 सगसंवेदण = स्वसंवेदन,
 अप्पमत्तादि = अप्रमत्तादि,
 गुणट्ठाण = गुणस्थान,
 अणुभूदि = अनुभूति,
 अंतोमुहत्त = अन्तर्मुहूर्त,
 चेट्ठा = चेष्टा,
 आउ = आयु,

टीका नं. 31-34

मणुयजीवण = मनुष्यजीवन,
 सहलत्त = सफलता,
 दव्वसुदणाण = द्रव्यश्रुतज्ञान,
 भावसुदणाण = भावश्रुतज्ञान,
 उवलद्धी = उपलब्धि,
 अहिययर = अधिकतर,
 पत्त = प्राप्त,
 उवओग = उपयोग,
 तच्च = तत्त्व,
 पत्ती = प्राप्ति,
 चउव्विह = चतुर्विध,
 हणा = आराधना,
 दिढ्ढीकरणट्ठ = कक्कीकरणार्थ,
 सम्मसहिण्ण = सम्यक्त्व सहित,
 समाजोग = समागम,
 अण्ण = अन्य,
 इच्छा णिरोह = इच्छा निरोध,
 पतवण = प्रतपन,
 पुव्विय = पूर्वक,
 अणादणिहण = अनादिनिधन,
 सहाव = स्वभाव,
 णियदभव्व = निकट भव्य,
 भेय = ध्येय,
 सत्थ = शास्त्र,
 पयत्थ = पदार्थ,
 आयारंग = आचारांग,
 भेयाभेय = भेदाभेद
 महड्डिय = महर्धिक,
 राय = राजा,
 चक्कवट्ठि = चक्रवर्ती,
 विसिट्ठ = विशिष्ट,
 पुण्णकम्म = पुण्यकर्म,
 अण्णिच्छा = अन्यइच्छा,

णिरोह = निरोध,
 पतवण = प्रतपन,
 पुण्ण = पुण्य,
 पयडि = प्रकृति,
 गब्भ = गर्भ,
 जम्म = जन्म,
 तव = तप,
 कल्लाण = कल्याण,
 सण्णा = संज्ञा,
 अहो = अधो,
 मज्झ = मध्य,
 उड्ढ = उर्ध्व,
 दाणव = दानव,
 अक्खय = अक्षय,
 सुह = सुख,
 मणुयत्त = मनुष्यता,
 गुत्त = गोत्र,
 सुक्ख = सुख,
 सहिदय = सहृदय,
 जम्म = जन्म,
 परिणदि = परिणति,

टीका नं. 35

सिरि = श्री
 रुक्ख = वृक्ष
 संधिय = स्वस्तिक
 सहसट्ठ = एक सौ आठ

टीका नं. 36

भाणविहि = ध्यानविधि,
 अप्पदेस = आत्मप्रदेश,
 आयार = आकार,
 ऊण = ऊन (कम),
 अणाइ = अनादि,
 पंचलद्धि = पंचलब्धि,
 उवसम = उपशम,

अणंताणुबंधिकसाय =
 अनन्तानुबन्धीकषाय,
 विसंजोय = विसंयोजना,
 खवणट्ठ = क्षयार्थ,
 खइयसम्मादिट्ठि = क्षायिक
 सम्यग्दृष्टी,
 णिरयाऊ = नरकायु,
 सत्तवुच्छेद = सत्त्वविच्छेद,
 सगट्ठाण = स्वस्थान,
 परावट्ठण = परावर्तन,
 खवग सेढि = क्षपकश्रेणी,
 अधाववत्तकरण = अध
 :प्रवृत्तकरण,
 विसोहि = विशुद्धि,
 कत्थ वि = कहीं भी,
 सुक्कभाण = शुक्लध्यान,
 णिरयगदि = नरकगति,
 आणुपुव्वि = आनुपूर्वी,
 उज्जोद = उद्योत,
 आतव = आतप,
 साहारण = साधारण,
 सुहुम = सूक्ष्म,
 थावर = स्थावर,
 थाणगिद्धि = स्त्यानगृद्धि,
 णिद्वाणिद्वा = निद्रा निद्रा,
 पयला पयला = प्रचला प्रचला,
 दंसणावरणकम्म = दर्शनावरणीकर्म,
 क्खअ = क्षय,
 पच्चक्खाण = प्रत्याख्यान,
 हस्सादि = हास्यादि,
 णोकसाय = नोकषाय,
 संजलणकोह = संज्वलन क्रोध,
 माण = मान,
 सत्तविणास = सत्त्व विनाश,

लोह = लोभ,
 णिद्वा = निद्रा,
 पयला = प्रचला,
 चरिम = चरम,
 सामण्ण = सामान्य,
 उक्कस्स = उत्कृष्ट,
 अवसेस = अवशेष,
 आउ = आयु,
 अट्टारसमे = 18वें,
 पच्चीससदेगतालीस = 2541,
 विदिय = द्वितीय,
 समुग्घाद = समुद्घात,
 तदिय = तृतीय,
 बाहत्तर = 72,
 अप्पडिपादि = अप्रतिपाति,
 दण्ड = दण्ड,
 कवाड = कपाट,

पदर = प्रतर,
 लोयपूरण = लोकपूरण,
 बादरजोग = बादरयोग,
 अप्पडिवादि = अप्रतिपादी,
 समुच्छिण्ण = समुच्छिन्न,
 णिवत्ति = निवृत्ति,
 दुचरिम = द्विचरम,
 सुहासुह = शुभाशुभ,
 उवघाद = उपघात,
 परघाद = परघात,
 उस्सास = उच्छ्वास,
 देवदुग = देवद्विक,
 अण्णयर वेदणीय = अन्यतर
 वेदनीय,
 णीचगोद = नीचगोत्र,
 चरिम = चरम,
 अण्णयर = अन्यतर,

उच्चगोद = उच्चगोत्र,
 मणुजाउ = मनुष्यायु,
 मणुस्सगदि = मनुष्यगति,
 जादि = जाति,
 सुहग = सुभग,
 तस = त्रस,
 बादर = बादर,
 पज्जत्त = पर्याप्तक,
 आदेय = आदेय,
 जसकित्ति = यशकीर्ति,
 मज्झपदेसपन्त = मध्यप्रदेश प्रान्त,
 जणवद = जनपद,
 वरिसाजोग = वर्षायोग,
 सावण = श्रावण,
 किण्ह = कृष्ण,
 चउदसी = चतुर्दशी,
 पुण्ण = पूर्ण

क्रिया

समाह = कहते हैं,
 परूविज्जदे = प्ररुपित की जाती
 है,
 कीरदे = किया जा रहा है,
 वुच्चदे = उच्यते (उत्तर दिया
 जाता है),
 हवे = होती है,
 आह = कहते हैं,
 दिस्सदि = देखा जाता है,
 वण्णदे = वर्णन करते हैं,
 होंति = भवन्ति (होते हैं),

पडंति = पतन्ति (गिरना),
 सदहंति = श्रद्धान करते हैं,
 होज्ज = होता है,
 हवे = होता है,
 आह = कहते हैं,
 वुच्चंति = कहे जाते हैं,
 भर्मति = भ्रमन्ति, (धूमते हैं),
 णिरूवेंति = निरूपयन्ति,
 (निरूपण करते हैं),
 पावेंति = पाते हैं,
 लभेदि = प्राप्त करता है,

होदि = होता है,
 सदहदि = श्रद्धान करता है,
 पत्तेदि = प्रतीति करता है,
 रोचेदि = रुचि करता है,
 फासेदि = स्पर्श करता है,
 भणिहिदि = कहेंगे,
 ठादि = स्थित है,
 करिहदि = करेंगे,
 खवेदि = क्षय होना,
 आराहेदि = आराधना करता है,
 लिप्पदि = लेप को प्राप्त होना,

जायदि = जायते (पैदा होता है),
 चिट्टिदि = रहते हैं,
 कुणति = करते हैं,
 वण्णेदि = वर्णन करना,
 होंति = होते हैं,
 वुच्चति = कहे जाते हैं,
 अत्थि = है,
 सेवति = सेवन करते हैं,
 मुच्चदि = छोड़ते हैं,
 दूरीभवति = दूर होती है,
 साधेति = साधता है,
 कुणदि = करता है,
 परिच्चयदि = परित्यक्त करता है,
 करेदि = करता है,
 वट्टेदि = प्रवृत्ति करता है,
 पालेदि = पालन करता है,
 हरिसेदि = हर्षित होते हैं,
 मच्छरेदि = मात्सर्य करते हैं,
 भणदि = कहता है,
 जायते = पैदा होते हैं,
 पसरदि = प्रसरति (फैलता है),
 हवे = होता है,
 जादे = गते (बाद),
 करावेति = करवाता है,
 होमि = हूँ,
 कीरदे = करता है,

देदि = देती है,
 होंदि = होती हैं,
 कहिस्सति = कथयिष्यन्ति (कहेंगे),
 वंददि = वन्दति (वन्दना करता है),
 पडेदि = पड़ता है,
 णमदि = नमति (नमन करता है),
 गेणहदि = गृहणाति (ग्रहण करता है),
 कुव्वति = करते हैं,
 भुजति = खाते हैं,
 चिंतति = विचार करते हैं,
 रोचेदि = रुचिकर लगता है,
 जीवति = जीते हैं,
 वट्टति = वर्तना (व्यवहार) करता है,
 हवति = होते हैं,
 वोच्छामि = कहूँगा,
 चयदि = छोड़ता है,
 संभवदि = संभव होता है,
 हवेज्ज = भवेत् = हो,
 भवदि = भवति = होता है,
 वज्जति = छोड़ देता है,
 परिहरति = त्याग देता है,
 पावेदि = पाता है,
 लहइ = प्राप्त करता है,
 विगलदि = विगलित होती है,

उवसमदि = उपशम को प्राप्त होता है,
 भासदि = मालूम पड़ते हैं,
 देदि = देता है,
 पडिवज्जह = अंगीकारकरो,
 उववज्जदि = उत्पन्न होता है,
 जायदि = उत्पन्न होता है,
 परिणमइ = परिणमति परिणमन करता है,
 सदहदि = श्रद्धान करता है,
 अणुहवदि = अनुभव करता है,
 कुणदि = करता है,
 वण्णेदि = वर्णन करता है,
 धरेह = धारण करो,
 सक्कई = कर सकते हो,
 कीरइ = करना चाहिए,
 करिज्ज = करना चाहिए,
 अणुपालेदि = पालन करता है,
 पसाधयदि = साध सकता है,
 गिण्हति = ग्रहण करते हैं,
 चेट्टति = चेष्टा करते हैं,
 सयति = सोते हैं,
 आवरणेति = आवरण करते हैं,
 वत्तइस्सामो = बतलायेंगे,
 बोल्लेदि = उल्लंघन करता है,
 भ्रादि = ध्याता है।

कृदन्त

संजाद = संजात, (उत्पन्न),
 पणीद = प्रणीत किच्चा = कृत्वा (करके),
 अणलंघियूण = उल्लंघन न करके,
 पत्त = प्राप्त,

गहेयव्वो = गृहीत को ग्रहण करना चाहिए,
 कदं = कृतं (किया गया है),
 मुणेदव्वं = मानना चाहिए,
 समुदिट्ठो = निर्देशित किया गया है,

णायव्वो = जानना चाहिए,
 विण्णेओ = विज्ञेयो-जानना चाहिए,
 मोत्तूण = छोड़कर,
 जाणंता = जानते हुए,
 विरहिय = विरहित,

भणिया = कही गई है,
णादव्वो = ज्ञातव्य,
कहिद = कथित,
चिंतिदूण = चिंतन करके,
वुत्तं = उक्तं (कहा गया है),
सूचिदो = सूचित होता है,
कहिदो = कहा गया है,
भणिदो = कहा गया है,
लहिदूण = प्राप्तकर,
जादा = याता (हो गये),

दिट्ठा = दृष्टा (देखे गये हैं),
पवट्ठ = प्रवर्तित,
बंधुच्चिय = बंधे हुए,
सहिदो = सहित,
णिबद्ध = निबद्ध,
विणट्ठा = विनष्ट,
पढिदूण = पढ़कर,
रहिय = रहित,
कादूण = करके,
कदं = कृतं (किया) वुत्तं = उक्तम्

(कहा भी है),
कादव्वं = कर्तव्यम्,
असहंता = सहन न करते हुए,
दिट्ठूण = देखकर,
विण्णेया = विज्ञेया (जानना चाहिए),
उववण्णो = उत्पन्न हुआ,
ठविदो = स्थापित किया,
णिरूविदा = निरूपित किये,
णिग्गदो = निर्गत हुआ, निकला।

विशेषण

मज्झ = मध्य,
परुवेदुकाम = प्ररूपित करने की
इच्छा वाले,
मंगलायरणरूवा =
मंगलारचरणरूप,
संखेव = संक्षेप,
अणदिवित्थर = अनतिविस्तार
(बिना अधिक विस्तारक),
ग्रहण = ग्रहण,
सवव्वेसिं = सभी,
बाहिरे = बाहर से,
कारणभूद = कारणभूत,

बहुविह = बहुविध,
अहिय = अधिक,
अणुसार = अनुसार,
गोणपंसगादो = गौणप्रसंग के कारण,
किमट्ठं = किमर्थ (किसलिए),
दूरयरं = दूरतर,
दूर तक,
दिढभाव = दृढभाव,
णिमदभविस्से = निकट भविष्य में,
बाहिरलिं = बहिरलिङ्ग,
उवट्ठिदे = उपस्ति रहने पर भी,
दिढतरेण = दृढता के साथ,

चागेण = त्यागेन (त्याग से),
भोगणिमित्तं = भोगों के निर्मित
से,
जिणवयणाणुसार =
जिवचनानुसर,
अग्ग = आगे,
बुद्धि पुव्विरण = बुद्धिपूर्वक,
माणेन-मानेन,
पच्छाव = बाद में भी,
लब्भदे = लभ्यते = प्राप्त होता है,
णमस्संति = नमस्कुर्वन्ति,
कुणांति = कुर्वन्ति (करते हैं)

संख्यावाचक

ट्ठ = अष्ट,
पढम = प्रथम,
चउबीस = चौबीस,
अट्ठावीस = अठाईस (28),
चउस्सीदि = चौरासी,
लक्ख = लाख,
दुविहं = द्विविधं (दोनों प्रकार के),
तीसु = तीनों,

छव्व = छः,
पंच = पाँच,
अट्ठावीस = अठाईस (28),
चउरसीदिलक्ख = चौरासी लाख,
तदीय = तृतीय,
तेवण्णहिय सत्तसयतमे = 700
53 अधिक 753 वि.सं.,
छत्तीस+अहिय+सय+तमे = छत्तीस

अधिक शत = 136 सं. में,
पंचसयछब्बीसवरिस = 526 वर्ष
में,
सत्तसय पंचवरिस = 705 वर्ष,
बेसय बरिस = 201 वर्ष,
छव्विह = छब्बीस (26),
चउदस = चौदह (14),
तिदीय = तृतीय,

चउत्थ = चतुर्थ,
एय = एक,
पंचम = पांचवा,
छह = 6,
णव = नव, नौ,

सदसहस्स = शतसहस्र,
तेरस = तेरह,
विदिय = द्वितीय,
एयारस = ग्यारह,
तिविह = त्रिविध,

छट्ठ = छः,
सत्तम = सातवीं,
णवम = नौमी,
चउत्थ = चौथे

अव्यय

अथ = प्रारंभिक शब्द,
अणेय = अनेक,
ताव = तावत्,
तत्थ = तत्र,
वहां,
जहाकम = यथाक्रम,
पुव्व = पूर्व,
आदि = आदि,
त्ति = इति,
पुण = पुनः,
एत्थ = यहाँ,
ण = नहीं,
अहवा = अथवा,
त्ति = इति,
अत्थो = अस्ति (है),
अहवा = अथवा,
त्ति = इति,
अत्थ = यहाँ,
अवर = अपर,
दूसरा,
विणा = बिना,
खुल = ,
एव = ही,
एव = ही,
जे = जो,
केई = कोई,
कदाइं = कदाचित्,

किंचि = किंचित,
आदि = इत्यादि,
पुणो = पुनः,
अहवा = अथवा,
पुणा = पुन,
इच्चादि = इत्यादि,
अह = अथ,
जदि = यदि,
तो = तो,
किण्ण = क्यों नहीं,
वि = भी,
च = और,
विणा = विना,
तदो = तब,
जहा = यथा,
कथं = कैसे,
पडि = प्रति,
अह = अब,
अइ = अति,
अवि = अपि (भी),
तहेव = तथैव,
हि = निश्चित रूप से,
पुण = पुनः,
वि = भी,
दु = ,
अज्ज = अत्र,
तत्थ = वह,

जहा = यथा (जैसे),
तहेव = तथैव (उसी प्रकार),
एदेण = इस तरह,
च = और,
तस्स = उसका,
इच्चादि = इत्यादि,
सव्व = सर्व,
जम्हा = चूँकि,
विणा = विना,
जदो = जब,
पच्छा = पश्चात्,
कदावि = कदापि,
किंतु = परन्तु,
खलु = निश्चितरूपेण,
अहवा = अथवा,
एवंविह = एवंविध,
सयं = स्वयं,
दु = तु,
कयावि = कदापि,
जह = जिस प्रकार,
तह = उस प्रकार,
कधं = कथम्,
जत्थ = जहां,
अह = अथ = अब,
इमो = ये,
त्थि = है,
दु = तु = तो,

तहावि = तथापि,
 पडि = प्रति,
 इच्चादि = इत्यादि,
 तहेव = उसी प्रकार,
 केई = कितने ही,
 तत्थ = तत्र = वहाँ,
 जहेच्छं = यथेष्ट,
 सदेव = सदैव,
 अहवा = अथवा,
 सया = सदा,
 सयं = स्वयं,
 आदिय = आदिक,
 केई = कितने ही,
 विणा = बिना,
 कयावि = कदापि,

चे = चेत्,
 वि = भी,
 अग्ग = आगे,
 तहा = तथा,
 सम्म = समान,
 अत्थि = है,
 संपहि = वर्तमान काल में,
 तहा = तथा,
 जह = जिस,
 तदा = तब,
 सणियसणियं = शनै-शनै,
 पच्छा = पश्चात्,
 एवविह = एवविध,
 अह = अब,
 आहो = अथवा,

उहय = उभय,
 तथ्य = वहां,
 ताव = तब तक,
 जाव = जब तक,
 अण्णहा = अन्यथा,
 कयावि = कदापि,
 इच्चादि = इत्यादि,
 कहंभूद = कथंभूत,
 सयं = स्वयं,
 तध = तथा,
 किध = कैसे,
 कध = कैसे,
 अज्ज = आज,
 सरिस = जैसा,

सर्वनाम

तेण = तेन,
 तेसु = तेषु,
 एसा = एषा (यह),
 तस्स = तस्य (उसका),
 जे = ये,
 अण्णे = अन्य,
 कस्स = किसी,
 जे = ये (वे),
 सव्वे = सर्वे (सब),
 जे = ये (जो),
 सव्वे = सर्वे (सब),
 तेण = तेन,

सयं = स्वयं,
 अस्सिं = इसी,
 तस्स = तस्य (उसका),
 एदेण = एतेन (उससे),
 जस्स = यस्य (जिसके),
 तम्मि = तस्मिन् (उसी),
 अण्णम्मि = अन्यस्मिन्
 (दूसरे),
 एदे = एते = मे,
 जे = ये = जो,
 सो = वह,
 सग = अपने,

तेण = तेन-इस कारण,
 तेसिं = उनको भी,
 अण्ण = अन्य,
 तस्स = तस्म = उसका,
 इमो = ये,
 तं = उसको,
 एतेण = एतेन (इस)
 सव्वाणं = सबको,
 इणं = यह,
 तिण्हा = उससे,
 जेसि = जिनके,
 तेसि = उनके,

परिशिष्ट-2

॥श्री जिनाय नमः॥

महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी कृत हिन्दी पद्यानुवाद

दर्शन प्राभृत

वृषभादिक वीरान्त जिनेश्वर को मैं शीष झुकाता हूँ।
दर्शन पाहुड की नूतन हिन्दी कर, सही बताता हूँ॥1॥
दर्शन को ही मूल धर्म का, बतलाया है जिनवर ने।
दर्शन रहित पुरुष का आदर, इस भूतल पर नहीं बने॥2॥
दर्शन रहित भाव से वह उसको कैसी सुखदाता।
चरितहीन फिर भी शिवगामी, दर्शन बिना न शिव पाता॥3॥
सम्यग्दर्शन से विहीन, नाना शास्त्रों का भी ज्ञाता।
समुपासना शून्य होकर इस जग में सदा ही दुःखपाता॥4॥
कोटि वर्ष तक तप कर भी शिवपुर की डगर नहीं पावे।
जो पुरुष सम्यग्दर्शन पर, अपना चित्त नहीं लावे॥5॥
दर्शन बोध वीर्य बल होवे, वर्द्धमान सम्यक्पन से।
कलि मल रहित केवलज्ञानी सहसा आत्माराम लसे॥6॥
जिसके दिल में सम्यग्दर्शन रूप नीर का पूर बहे।
चिर से संचित कर्म रेणुदल, पल में उसका क्यों न बहे॥7॥
भ्रष्ट जो कि दर्शन से, व्रत से तथा ज्ञान से भी रीता।
औरों को भी भ्रष्ट करे वह, उसका वृथा जन्म बीता॥8॥
संयम नियम तपो गुण धारक, धर्मशील पुरुषोत्तम के।
दोषारोपण करने में भी स्वयं भ्रष्ट वह नहीं थके॥9॥
यदि जड़ में कीड़ा लग जावे तरुवर कहाँ फले फूले।
वैसे ही वह सिद्धि न पावे, जो नर जिनमत को भूले॥10॥

यदि जड़ होवे पुष्ट तभी तो, शाखा स्कन्ध बढ़े सारे।
 जिनमत पर मति होने से ही, मुक्तिमार्ग हो हे प्यारे॥11॥
 मत भ्रष्ट होकर सन्मत वाले से जो पैर पुजाते हैं।
 बोधि रहित होकर वे लूला लंगडापन को पाते हैं॥12॥
 भय, आशा, लज्जावश होकर, जो उनका सम्मान करे।
 पाप समर्थक होने से वह, भी सुबोधि को नहीं धरे॥13॥
 पाणि पात्र भोजन खड़े-खड़े द्विविध सङ्ग का त्याग जहाँ।
 त्रिकरण शुद्ध तीन योगों से, संयम हो जैनमत वहाँ॥14॥
 जैनमताश्रय पाने से ही ज्ञान यथार्थ बने जन का।
 ताकि भलाई और बुराई में, मन पहचाने उसका॥15॥
 अतः कुशील पने को तजकर, शीलवान यह बन जावे।
 शीलभाव से अभ्युदयी होकर फिर निर्वृति को पावे॥16॥
 जिन वागौषधि जरा मरण गद हरिणी सुधा समान कही।
 भोग भाव का अतः विरेचन हो कोई भी दुःख नहीं॥17॥
 जिनमत में जिनलिङ्ग एक तो श्रेष्ठ श्रावक का दूजा।
 आर्याओं का लिङ्ग तीसरा, चौथे की न कही पूजा॥18॥
 सप्त तत्त्व नव पदार्थ पंचास्तिकाय षट् द्रव्यों का वा।
 हो श्रद्धान यही सुदृष्टि बनने का स्पष्टतया दावा॥19॥
 यह तो व्यवहार किन्तु निश्चयनय पर जब आते हैं।
 आत्मा ही सम्यक्त्व वहाँ कुछ कहाँ और हम पाते हैं॥20॥
 रत्नत्रय में सारभूत यह सम्यग्दर्शन है भाई।
 मोक्ष महल की पहली सीढ़ी श्री जिनवर ने बतलाई॥21॥
 करना शक्त्यनुसार किन्तु मानना जिनोदित पूर्णतया।
 उसे मानने वाले को सम्यक्त्व वान है कहा गया॥22॥
 दर्शन बोध व्रत तप वीर्याचार सार में तत्पर हो।
 गुणियों से गुण लेने वाला वन्दनीय सर्वदा अहो॥23॥

यथा जात मुनि की ईर्षा वश, जो अविनय पर आता है।
 दीक्षा धारक हो कर भी वह मिथ्यादृष्टि कहाता है॥24॥
 देख जो कि उस देवों द्वारा मान्यशील संयुत मति को।
 जो धमंड में चूर रहे समझो झूठी उस की मति को॥25॥
 पट युत वा केवल पट विरहित नमस्कार के योग्य नहीं।
 किन्तु जो कि संयम का धारक इस भूतल पर पूज्य वही॥26॥
 गुण ही पूज्य जगत के भीतर, देह जाति कुल पूज्य नहीं।
 अपने योग्य गुणों का धारक जो श्रावक या साधु वही॥27॥
 तप संयम गुण शील साधु का आदर लायक होता है।
 यदि सम्यक्त्व सहित हो तब ही भव बंधन को खोता है॥28॥
 चौतीसों अतिशय युत चौसठ चमर जिन्हीं के होते हैं।
 सब जीवों के हितकर जिनवर पाप कर्म को खोते हैं॥29॥
 दर्शन बोध चरित तप चारों आराधना यथार्थ बने।
 जिन शासन में कहा गया वह संयम हो तो कर्म हने॥30॥
 नर भव का भूषण विचार जिससे कि विशद सम्यक्त्व धरें।
 ताकि सदाचारी होकर वह शिवरमणी को शीघ्र वरें॥31॥
 दर्शन बोध चरित तप चारों हो सम्यक्त्व सहित जब ही।
 सिद्धि बधू का कान्त मनुज हो इसमें कुछ सन्देह नहीं॥32॥
 इस दुनियाँ में से सम्यग्दर्शन, विशुद्ध हो जब चेतन का।
 कल्याणों का धारक बनकर, हो प्यारा सब के मन का॥33॥
 नर भव उत्तम कुल को पाकर, जो कि शुद्ध सम्यक्त्व धरे।
 तब अनन्त सुख सम्पाद केवल ज्ञान उसके उभरे॥34॥
 चौतीसों अतिशय युक्त अष्टोत्तर सहस्र लक्षण धारी।
 उस अरहंत देव की महिमा, इस भूतल पर है भारी॥35॥
 द्वादश तप धर कर्म खपावें, देह छोड़ शिवपद पावे।
 सकल विश्व यह सिद्ध नाम से सदा उसी के गुण गावे॥36॥
 इति दर्शन प्राभृत।

दर्शनपाहुड (गाथाओं का मूल पाठ)

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स ।
 दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥1॥
 दंसणमूलो धम्मो उवड्डो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
 तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥2॥
 दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
 सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥3॥
 सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
 आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥4॥
 सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उगं तवं चरंता णं ।
 ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥5॥
 सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्डमाण जे सव्वे ।
 कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होति अइरेण ॥6॥
 सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।
 कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥7॥
 जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
 एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥8॥
 जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी ।
 तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥9॥
 जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्डी ।
 तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥10॥
 जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होई ।
 तह जिणदंसण मूलो णिद्विट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥11॥
 जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं ।
 ते होति लुल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥12॥

जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण ।
 तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणानं ॥13 ॥
 दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।
 णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥14 ॥
 सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी ।
 उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥15 ॥
 सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि ।
 सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥16 ॥
 जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं ।
 जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥17 ॥
 एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
 अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥18 ॥
 छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्धिद्व ।
 सइहइ ताण रूवं सो सद्धिटी मुणेयव्वो ॥19 ॥
 जीवादी - सइहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
 ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥20 ॥
 एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
 सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥21 ॥
 जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सइहणं ।
 केवलिजिणेहि भणियं सइहमाणस्स सम्मत्तं ॥22 ॥
 दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था ।
 एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥23 ॥
 सहजुप्पणं रूवं दट्ठुं जो मण्णाए ण मच्छरिओ ।
 सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइटी हवइ एसो ॥24 ॥
 अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।
 जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होति ॥25 ॥

असंजदं ण वंदे वत्थविहीणो वि सो ण वंदिज्ज ।
 दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥26 ॥
 ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
 को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ ॥27 ॥
 वंदामि तवसमण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च ।
 सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥28 ॥
 चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो ।
 अणुयरबहुसत्तहिओ कम्मक्खय कारणणिमित्तो ॥29 ॥
 णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
 चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥30 ॥
 णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
 सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥31 ॥
 णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।
 चउण्हं वि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥32 ॥
 कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
 सम्मद्वंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥33 ॥
 दट्ठूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
 लद्धूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं च मोक्खं च ॥34 ॥
 विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो ।
 चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥35 ॥
 बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण स्सं ।
 वोसट्ठचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥36 ॥

परिशिष्ट-4

दर्शनप्राभृतः
नन्दिनी टीका में प्रयुक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ

सन्दर्भ	ग्रन्थ	टीका नं.
उज्जोवण	भगवती आराधना	4
तव पादौ	समाधि भक्ति	4
जो पुण मिच्छादिट्टी	भगवती आराधना 57	5
सद्दहदि य पत्तेदि	समयसार 293	5
दुविहं पि गंथचायं	दर्शनपाहुड 14	6
दिट्ठा अणादि	भगवती आराधना 17	6
रागादीनुपयोग	समयसार कलश 165	7
पुढवी पिंडसमाण।-	समयसार कलश 169	7
मरीचिश्च	आदि पुराण 18/61	8
तदुपज्ञमभूद्	आदि पुराण 18/62	8
मनसिवचसि	सुभाषित	
गोपुच्छक		11
गुणदोधिगस्स	प्रवचनसार 3/66	12
अधिगगुणा	प्रवचनसार 3/67	13
जह णाम को वि	समयसार 156	16
जेसिं विसयेसु	प्रवचनसार 64	17
सासण मलिहंताणं	मुद्राराक्षस 9/18	17
स धर्मो यत्र	आत्मानुशासन 46	17
क्षुत्तृष्णाश्वास-	सिद्ध भक्ति 6	17
सूक्ष्मं जिनोदितं	आलाप पद्धति 5	21
कान्त्यैव स्नपयन्ति	समयसार कलश 24	21
अयि कथमपि	समयसार कलश 23	21
एकत्वे नियतस्य	समयसार कलश 6	21
किध तम्मि णत्थि	प्रवचनसार 3/21	26

सन्दर्भ	ग्रन्थ	टीका नं.
इन्द्र:सेवां-	एकीभाव स्तोत्र 20	29
णाणम्मि भावणा	समयसार 11	32
विभु: कल्पतरु	आदि पुराण 15/36	35
तानि श्री	आदि पुराण 15/37	35
झषौ कुम्भौ	आदि पुराण 15/38	35
वाणवाणा	आदि पुराण 15/39	35
वेणुर्वीणा	आदि पुराण 15/40	35
उद्यानं	आदि पुराण 15/41	35
सुरभि:	आदि पुराण 15/42	35
उडूनि तारका:	आदि पुराण 15/43	35
लक्षणान्येव	आदि पुराण 15/44	35